

सचित्र

# कर्म विज्ञान

SCIENCE OF KARMA



लेखन : डॉ. पद्मचन्द्र जी क. वशी.







# सचित्र कर्म विज्ञान

**शुभाशीर्वाद :**

जयगच्छाधिपति, सरलमना, प्रशांतचेता, ग्यारहवें पट्टधर  
आचार्य सम्राट् श्री शुभचन्द्रजी म. सा.

**छत्रछाया :**

ल्याख्यान वाचस्पति, आशुकवि, वचनसिद्ध साधक  
वर्तमान आचार्य प्रवर श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा.

**आशीर्वाद :**

कर्मठ अर्धवसायी, अप्रमत्त अध्यात्मयोगी, घोर तपस्वी  
उपाध्याय प्रवर श्री गुणवंतचन्द्र जी म. सा.

**लेखन :**

जयगच्छीय दशम पट्टधर आचार्य प्रवर श्री लालचन्द्र जी म. सा. के सुशिष्य  
प्रवचन प्रभावक, 12 व्रतों के प्रबल प्रेरक, अणुस्मृति ध्यान प्रणेता  
डॉ. श्री पद्मचन्द्र जी म. सा.





पुस्तक :

# सचित्र कर्म विज्ञान

शुभाशीर्वाद :

जयगच्छाधिपति सरलमना, प्रशांतचेता, ग्यारहवें पट्टधर  
आचार्य सम्राट् श्री शुभचन्द्रजी म. सा.

छत्रछाया :

व्याख्यान वाचस्पति, आशुकवि, वचन सिद्ध साधक, जयसंघ के अनुशास्ता  
वर्तमान आचार्य प्रवर श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा.

आशीर्वाद :

कर्मठ अध्यवसायी, अप्रमत्त अध्यात्मयोगी, घोर तपस्वी  
उपाध्याय प्रवर श्री गुणवंतचन्द्र जी म. सा.

लेखन :

जयगच्छीय दशम पट्टधर आचार्य प्रवर श्री लालचन्द्र जी म. सा. के सुशिष्य  
प्रवचन प्रभावक, 12 व्रतों के प्रबल प्रेरक, अणुपेहा ध्यान प्रणेता  
डॉ. श्री पद्मचन्द्र जी म. सा.

संपादक :

संजय सुराणा

प्रकाशक :

श्री जयमल जैन पार्श्व पद्मोदय फाउण्डेशन ट्रस्ट  
3-A, Vepery Church Road, Vepery, Chennai-600 007

प्रतियाँ :

3000

संस्करण :

प्रथम संस्करण, वि. सं. 2072, ई. स. 2016

मूल्य :

300/- रुपये

मुद्रण व चित्रांकन :

संजय सुराणा द्वारा

श्री दिवाकर प्रकाशन

ए-7, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड, अंजना सिनेमा के सामने,  
आगरा-2. फोन : 0562-2851165, M-9319203291

E-mail : sansuman21@gmail.com





# समर्पण

तप स्वाध्याय साहित्यसर्जना में सदा अप्रमत्त, उत्कृष्ट चरित्र-आराधना में सतत जागरूक "भारण्ड पवित्रव चरेपमतो" के प्रतीक रूप, विनय, सरलता एवं निर्भीकता के मूर्तिवन्त, सद्धर्म क्रान्ति के अजेय बोद्धा, चर्चा-चक्रवर्ती, श्रीभूम प्रतिज्ञाधारी, परम प्रख्येय युगप्रधान एकभवावतारी आचार्यसमाद, **पूज्य श्री जयमल्ल जी म. सा.** की उज्ज्वल परम्परा में तेजस्वी नक्षत्र साधना शिखर के आरोही निर्मल-निश्चल चरित्र आत्मा स्वाध्याय प्रेमी स्वामीवर्य **श्री चौदमल जी म. सा.** के सुशिष्य-बुध-जयगच्छ के बारहवें पड़घर प्रशान्तचेता सरलात्मा सहजयोगी आचार्य समाद **पूज्य श्री शुभचन्द्र जी म. सा.** एवं परम विनयी व्याख्यान वाचस्पति, चिन्तन की शबल धारा के प्रवाहक, शब्द-शिल्पी, गहन व्याख्याकार, वचन सिद्ध साधक, अनंत आस्था के आयाम, जयगच्छ के बारहवें पड़घर, वर्तमान आचार्य प्रवर **पूज्य श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा.** के कर-कमलों में सप्रज्ञा-सम्पत्ति समर्पित।

विनयावनत-  
**डॉ. मुनि पदमचन्द्र**





जय गुरु शुभ

॥ पूज्य जयमल्लाय नमः ॥

जय गुरु पार



2. आ. श्री राघवचन्द्रजी म. सा.



3. आ. श्री आसकरणजी म. सा.



4. आ. श्री सबलदासजी म. सा.



5. आ. श्री तीराचन्द्रजी म. सा.



6. आ. श्री कस्तूरचन्द्रजी म. सा.



7. आ. श्री भीकमचन्द्रजी म. सा.



8. आ. श्री कानमलजी म. सा.



9. आ. श्री जीतमलजी म. सा.

## जय स्वामी परम्परा

स्वामीप्रवर श्री कुशलचंदजी म. सा.      स्वामीप्रवर श्री हरकचंदजी म. सा.  
स्वामीप्रवर श्री भगवानदासजी म. सा.      स्वामीप्रवर श्री सूरजमलजी म. सा.  
स्वामीप्रवर श्री राजमलजी म. सा.      स्वामीवर्त श्री नथमलजी म. सा.  
स्वामीप्रवर श्री चौधमलजी म. सा.      स्वामीप्रवर श्री बत्तावरमलजी म. सा.  
स्वामीप्रवर श्री रावतमलजी म. सा.      स्वामीप्रवर श्री चांदमलजी म. सा.

आचार्य समाद  
श्री शुभचन्द्रजी  
म. सा.

10. आ. श्री लालचन्द्रजी म. सा.

11. आचार्य समाद श्री शुभचन्द्रजी म. सा.

व्याख्यात वाचस्पति, आशुक्वि, वचन विद्वाद्भाष्यक, जयसंघ के अनुशास्ता  
वर्तमान आचार्य प्रवर श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा.

कर्मठ अध्यात्म्यायी, अप्रमत्त अध्यात्मयोगी, धीर तपस्वी  
उपाध्याय प्रवर श्री गुणवंतचन्द्र जी म. सा.



# भूमिका

**ज**गत् में जीव और अजीव दो शाश्वत सम्पदाएँ हैं। जीव जब जगत् से जुड़ता है तो वह उसी में ही रमता चला जाता है। जगत् से उसका यह जुड़ाव उसे विभिन्न योनियों-गतियों में भ्रमण कराता रहता है। भव भ्रमणशील जीव अनादिकाल से मोह-प्रमाद के वशीभूत सुख-दुःख भोगता हुआ, राग-द्वेष से संश्लिष्ट हर्ष-विषाद में जीता हुआ, जगत् के मिथ्या आकर्षणों, विकर्षणों के मकड़जाल में फँसता हुआ कर्मों के बंधन में बंधता जाता है और अपने यथार्थ स्वरूप-शक्ति को विस्मृत कर देता है। यह कर्म ही है जो भव भ्रमणशील जीव को जगत् से जोड़े रखता है। अस्तु, जीव और कर्म का सम्बन्ध **अन्योनश्रित** है। मोह-मिथ्यात्व, कषाय, प्रमाद, योग, अविरति ये सब कर्म के मूल में हैं।

जीव का यह वैशिष्ट्य है कि वह चाहे तो कर्म से अपना सम्बन्ध तोड़ सकता है और चाहे तो उसे जोड़ भी सकता है। कर्म से सम्बन्ध तोड़ने के लिए उसे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र परक जीवनचर्या स्थिर करते हुए अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होना पड़ेगा। तभी वह सदा-सदा के लिए कर्म से मुक्त-विमुक्त हो सकेगा। कर्म मुक्त जीव जगत् से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता, वह अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित अनंत आनंद का भोक्ता बन जाता है।

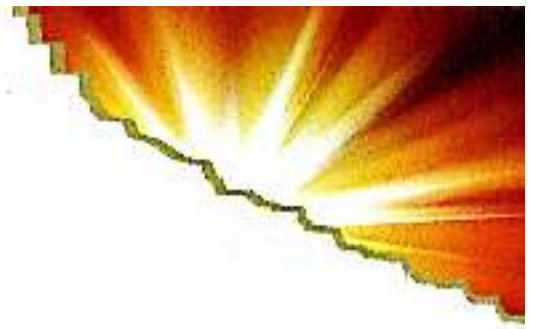
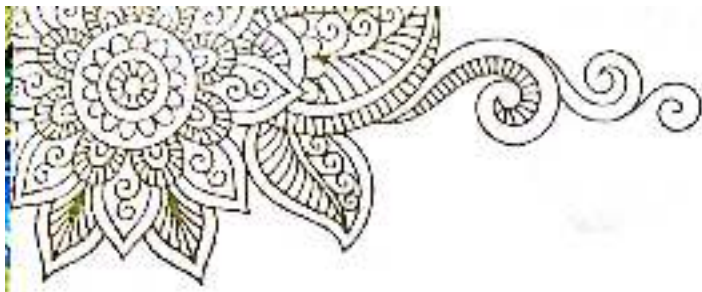
जीव के विकास और ह्रास में कर्म की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि जीव की समस्त जैविक-अजैविक क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ कर्म पर ही टिकी हैं। इससे एक बात ध्वनित है कि जीव की तरह ही कर्म की सत्ता और महत्ता भी असंदिग्ध है।

कर्म के रूप-स्वरूप पर, उसके अस्तित्व पर, उसकी शक्ति पर, जीव के साथ उसका संयोग-सम्बन्ध आदि पर और उस सम्बन्ध से मुक्त होने की प्रक्रिया पर प्रकाश डालने वाला सिद्धान्त (Theory), **कर्म सिद्धान्त** है। कर्म सिद्धान्त के माध्यम से जीव और जगत् के गूढ़ से गूढ़तम तथ्यों को जहाँ समझा जा सकता है, वहीं बंधन और मुक्ति की प्राक्रया को भी जाना जा सकता है।

भारतीय और भारतीयेत्तर धर्म-दर्शनों में कर्म की मीमांसा अपने-अपने ढंग से निरूपित है। परन्तु सभी दर्शनों ने कर्म की महत्ता को स्वीकारा है। ऋग्वेद (6/11/5) में यह स्पष्टतः उल्लिखित है कि जिस प्रकार सूर्य में प्रकाशमान तेज समाहित है, उसी प्रकार मानव में कर्म समाहित है। यथा—‘**अश्रायि यज्ञः सूर्ये न चक्षुः।**’ छान्दोग्य उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि ‘**ऋतुमयः पुरुषो**’ अर्थात् पुरुष ऋतुमय है, कर्ममय है। भगवद् गीता कहती है कि जगत् में रहने वाला कोई भी जीव क्षणमात्र भी कर्म किए बिना रह नहीं सकता। यथा—‘**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत**’ (भगवद्गीता, अध्याय 3, श्लोक 5)। पाश्चात्य दर्शन भी कर्म की व्याख्या Good deed और Bad deed यानि अच्छे और बुरे कार्यों के रूप में करते हैं। चार्वाक जैसा नास्तिक दर्शन भी पाश्चात्य दर्शन की भाँति कर्म को अच्छे या बुरे कार्यों के रूप में स्वीकारता है। इस्लाम और ईसाई धर्मों में भी कर्म इसी अभिप्राय के साथ अभिव्यक्त है। मीमांसा वेदांत, योग, सांख्य, बौद्ध, गीता प्रभृति अनेक भारतीय धर्म-दर्शन कर्म का प्रयोग क्रियापरक अर्थ में करते हैं। समस्त क्रियाएँ चाहे मानसिक हों, वाचिक हों और चाहे कायिक हों, इसके साथ ही चाहे जड़ शक्ति की हों अथवा चैतन्य शक्ति की हों, कर्म में समाविष्ट हैं।

जैन दर्शन क्रियापरक अर्थ के साथ-साथ उसके हेतुओं (कारणों) को भी कर्म में परिगणन करता है। इसके अनुसार कर्म न केवल क्रिया, कार्य या संस्कार के अर्थ में प्रयुक्त है अपितु यह जीव के द्वारा होने वाली प्रत्येक क्रिया से लेकर फल विपाक तक समाविष्ट है। ‘कर्मग्रंथ’ प्रथम की गाथा प्रथम में ही कर्म को सुन्दर ढंग से परिभाषित किया गया है। यथा—‘**कीरइ जिण्ण होउहिं जेणं तो भण्णए कम्मं।**’ अर्थात् जीव के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग





आदि हेतुओं (कारणों) से जो किया जाता है, कर्म कहलाता है। इस प्रकार जैनदर्शन में कर्म शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त है—एक जीव की स्पन्दन क्रिया, दूसरी जिनभावों से स्पन्दन क्रिया होती है, उनके संस्कार से युक्त कार्मण-पुद्गल और तीसरा वे राग-द्वेषादि भाव जो कार्मण पुद्गलों में संस्कार के कारण होते हैं।

### जैनेतर दर्शनों में अपूर्ण कर्म सिद्धांत

प्रायः जैनेतर दर्शनों में कर्म की महत्ता ही दिग्दर्शित है। इन दर्शनों ने समस्त संसार को कर्म प्रधान माना है। कर्मानुसार ही संसारी जीव फल भोगता हुआ संसार में रमण करता है किन्तु ये दर्शन कर्म के यथार्थ स्वरूप, अस्तित्व और कारणों आदि के सटीक समाधान में असमंजस्य की स्थिति में दिखाई देते हैं।

### जैन दर्शन में पूर्ण कर्म सिद्धांत

जबकि जैनदर्शन में कर्म और कर्मफल सम्बन्धी धारणाओं को प्रमाणों, युक्तियों व तर्कों के माध्यम से सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार जीव जब अपनी वास्तविक सत्ता-शक्ति को कर्म हेतुओं के कारण विस्मरण कर जाता है, तब वह कर्म से बंध जाता है किन्तु यही जीव जब आध्यात्मिकता में आता है और सम्यक् संयम व तप-ध्यानादि के माध्यम से अपनी वास्तविक सत्ता-शक्ति से साक्षात्कार कर लेता है तो वह कर्म से विमुक्त हो जाता है, संसार के आवागमन से छूट जाता है। अन्ततः वह कर्म रहित हो जाता है। कर्म रहित हो जाना ही मोक्ष है। वास्तव में कर्म और बंधन की प्रणाली तथा कर्म-विपाक से मुक्त होने की प्रक्रिया कर्म-सिद्धांत है। जो इस सिद्धांत को समझ लेता है, वह अपने जन्म, जीवन और मरण तीनों को सार्थक कर लेता है। कर्मबंधन की प्रणाली को समझने के लिए पहले हमें कर्म के रूप को समझना होता है, इसके स्वरूप पर विचार करना होता है।

### जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप

जड़ और चेतन दोनों के सम्मिश्रण से निर्मित कर्म भाव और द्रव्य रूप से दो भागों में विभक्त है जिसमें दोनों का सम्मिश्रण गौण-मुख्य रूप से रहता है। भाव कर्म में पुद्गल यानि जड़ गौण है और चेतन अर्थात् आत्म-तत्त्व मुख्य है, जबकि द्रव्यकर्म में इसकी विपरीत स्थिति है अर्थात् पुद्गल मुख्य है और आत्म-तत्त्व गौण है। दोनों ही स्थितियों में आत्मा और पुद्गल की प्रधानता-गौणता होते हुए भी दोनों में एक-दूसरे का सद-असद भाव नहीं होता। इसलिए आत्मा, आत्मा रहती है और पुद्गल, पुद्गल। जड़-चेतन (आत्मा और पुद्गल) का वह सम्मिश्रण केवल कर्मबद्ध संसारी जीव के लिए ही है। कर्ममुक्त जीव तो कर्मों से सर्वथा रहित शुद्ध-विशुद्ध चैतन्य रूप ही होता है, वहाँ सम्मिश्रण जैसी कोई स्थिति नहीं होती। संसारी जीव कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के कारण सदैव कर्म से युक्त है। मुक्त जीव में इन प्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव होने से वह कर्मरहित है। 'आप्त परीक्षा' के श्लोक 113 व 114 में भी इस बात को स्पष्ट किया गया है। यथा—'**द्रव्य कर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा। भाव कर्माणि चैतन्य-विकर्तात्मनि भाति नु। क्रोधादीनि स्व वेद्यानि कथंचिद् भेदतः।**' अर्थात् जीव के जो द्रव्य कर्म हैं, वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं तथा जो भाव कर्म हैं, वे आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक हैं क्योंकि वे आत्मा से कथंचित् अभिन्न रूप से स्व-वेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि कषाय रूप हैं। इस प्रकार स्पष्ट व सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि संसारी जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति जब राग-द्वेष, मोह या कषाय रंजित होती है, तभी भाव कर्म है और उनसे द्रव्यकर्म को ग्रहण करके संसारी जीव बंधन बद्ध हो जाता है। इस प्रकार कर्म के द्रव्य और भाव रूप को ध्यान में रखते हुए कर्म का सर्वांगीण स्वरूप आसानी से समझा जा सकता है।





संसारी जीव का यह स्वभाव है कि वह यह जानना-समझना चाहता है कि जो कुछ वह करता है, उसका फल-परिणाम क्या है? जिसके आधार पर वह तय कर सके कि कौन-सा कार्य उसके लिए करणीय है और कौन-सा अकरणीय है? इसी प्रकार कौन-सी प्रवृत्ति उसके लिए हेय है और कौन-सी प्रवृत्ति उसके लिए उपादेय है? जिससे उपादेयी प्रवृत्तियों को और करणीय कार्यों को अपनाकर वह अपने जीवन को धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ में लगाता हुआ अनंत आनन्द का भोक्ता बन सके।

जैनदर्शन की मान्यता है कि संसारी जीव स्व-पुरुषार्थ से ही शुभाशुभ कर्मों से जहाँ लिप्त हो सकता है, वहीं इन कर्मों से मुक्त भी हो सकता है। यह उसकी मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है कि वह कषायजन्य प्रवृत्तियों का कितनी सीमा तक तप-संयम आदि के माध्यम से अच्छेदन कर पाता है। वास्तव में जैन कर्म-सिद्धांत सर्वांगीण जीवन-सिद्धांत तो है ही, वह संसारी जीव की कर्मबद्ध दशा के साथ-साथ कर्म मुक्त दशा का भी प्ररूपक है। जैन कर्म-सिद्धांत इस बात पर प्रकाश डालता है कि शुद्ध-विशुद्ध जीवात्मा कर्मों से कैसे लिप्त होती है? वे कौन-कौन से कारण हैं जिनसे वह कर्म पुद्गल परमाणुओं से चिपकती है और चि 'कने के बाद ये कर्म पुद्गल परमाणु जीवात्मा पर क्या-क्या प्रभाव डालते हैं? उसे किर' दशा-स्थिति में पहुँचा देते हैं। इतना ही नहीं जैन कर्म-सिद्धांत इस बात का भी विशद विवेचन करता है कि इन कर्म पुद्गल परमाणुओं से छुटकारा कैसे मिले? इनसे कैसे बचा जा सके? जीव संसार दशा से मुक्त दशा में कैसे पहुँचे? यानि आत्मा से परमात्मा कैसे बने? इस सन्दर्भ में जैनदर्शन की ही यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा, परमात्मा बन सकती है। 'अप्या सो परमप्या।' आत्मा और परमात्मा के बीच जो व्यवधान है, वह कर्म है। कर्म हटे तो आत्मा से परमात्मा बनने में देर नहीं लगती। वास्तव में जैन कर्म-सिद्धांत अत्यंत सुव्यवस्थित, सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी विवेचन वाला विज्ञान है जो यह बताता है कि कर्म करते ही आस्रव के रूप में कर्म-परमाणु आकर्षित होते हैं। फिर राग-द्वेष या कषाय की तीव्रता-मंदता के अनुसार बंध होता है। भव कर्म की जितनी-जितनी तीव्रता-मंदता होगी, द्रव्य-कर्म का बंध भी उतना-उतना तीव्र-मंद होगा।

तदनन्तर कर्मबंध अपना फल देने लगते हैं। इनमें से कुछ कर्मबंध तत्काल फल नहीं देते, वे संचित रूप में पड़े रहते हैं, जब वे उदय में आते हैं तब फल देते हैं। जो कर्म संचित हैं, उनके उदय में आने की अवधि नहीं है तो अवधि से पूर्व उन संचित कर्मों को तपादि के माध्यम से उदीरणा करके उदय में लाकर समतापूर्वक उन्हें भोगा जाता है। इस प्रकार उन कर्मों से भी मुक्त हुआ जा सकता है। कर्म-फल की व्यवस्था स्व-संचालित है, स्वाभाविक है। इसमें किसी भी अन्य व्यवस्थापक या नियामक की अपेक्षा नहीं रहती है।

### कर्म के भेद

जैन कर्म-सिद्धांत कर्म को आठ धेदों में परिगणन करता है। ये अष्ट कर्म जीवात्मा में विद्यमान गुणों को प्रकट नहीं होने देते। ये आत्मगुणों को आवृत्त किए रहते हैं। आत्मा को जो स्वाभाविक दशा है, उसे प्रभावित कर विकृत करने का कुचक्र रचते रहते हैं। इन अष्टकर्मों को दो भागों में विभाजित किया गया है—एक, घाति कर्म और दूसरा, अघाति कर्म। घाति कर्म आत्मा के चार मूल गुणों—अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत अव्याबाध सुख और अनंत वीर्य (शक्ति) का घात-प्रतिघात या ह्रास तो करते ही हैं साथ ही आत्मा के क्षमादि अनुजीवी गुणों के विकास में भी बाधा उत्पन्न करते हैं। दूसरा, अघाति कर्म जो आत्मा के चार प्रतिजीवी गुणों—अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्त्तत्व और अगुरुलघुत्व का घात-ह्रास करते हैं। ये अघाती कर्म आत्मा की स्वाभाविक दशा की उपलब्धि तथा आत्मगुणों के विकास में बाधक नहीं होते, न उन्हें हानि पहुँचाते हैं किन्तु जीव को संसार में भटकने में प्रभावी भूमिका अवश्य निभाते हैं। इन कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यों से रहता है जिसके कारण आत्मा अमूर्त्त होते हुए भी मूर्त्तवत् रहती है। इन अघाति कर्मों का प्रभाव जीव के शरीर, इन्द्रिय, आयु, मन, वचन, अंग-उपांग, विषय सुख साधन पर पड़ता है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि केवल घाति कर्म का विनाश हो जाने पर जीव पूर्णतः शुद्ध-बुद्ध-मुक्त



नहीं हो जाता, इसके लिए अघाति कर्म का नष्ट होना भी आवश्यक है। इस प्रकार जीव की पूर्ण विशुद्धावस्था की प्राप्ति दोनों प्रकार के कर्मों के नष्ट-विनष्ट हो जाने पर ही सम्भव है।

घाति कर्म के चार भेद बताए गए हैं— 1. ज्ञानावरणीय कर्म, 2. दर्शनावरणीय कर्म, 3. मोहनीय कर्म, 4. अंतराय कर्म। इसी प्रकार अघाति कर्म के भी चार भेद निरूपित हैं— 1. वेदनीय कर्म, 2. आयुष्य कर्म, 3. नामकर्म, 4. गौत्रकर्म।

जगत में सारे कार्य कर्मानुसार होते हैं। जैसा जीव कर्म करता है, वैसा ही वह फल भी भोगता है। इसलिए कहा भी गया है कि जगत का प्रत्येक जीव स्वकर्मों का कर्ता है और किए गए स्वकर्मों के फल का भोक्ता भी है। परकीय शक्ति या सत्ता या ईश्वर आदि का इसमें कोई किसा प्रकार का सहयोग नहीं होता। संसारी जीव यद्यपि कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु कृत कर्मों के फल भोगने में परतन्त्र है। ऐसा नहीं है कि कर्म कोई करे और उस किए हुए कर्म के फल को भोगने वाला कोई और हो। इस प्रकार जैन कर्म-सिद्धांत ईश्वर, कर्तृत्ववाद का निराकरण और आत्म कर्तृत्ववाद का प्रस्थापन करता है।

प्रश्न उठता है कि जीव की शक्ति कर्म से अधिक है या कम? इन दोनों में कौन शक्तिशाली है? इस सन्दर्भ में जैन कर्म-सिद्धांत कहता है कि जीव और कर्म दोनों ही शक्तिशाली हैं लेकिन उनकी यह शक्ति सापेक्षगत है। जीव जब अपने मूल स्वभाव को भूलकर परभाव या विभाव में रमने लगता है यानि जीव परभाव को ही स्वभाव समझकर जब उसमें ही मन-वचन-कायपूर्वक प्रवृत्त होने लगता है तब कर्म पुद्गल (परद्रव्य) उस पर हावी हो जाते हैं और जीव को अपने अधीन कर लेते हैं इन दोनों द्रव्यों में जीव तो ज्ञानवंत है, उसका स्वभाव विकास करना है किन्तु कर्म का स्वभाव विकास में अवरोध पैदा करना है। दोनों की दिशाएँ अलग-अलग हैं परन्तु जीव की शक्ति कर्म की शक्ति से अधिक है। यदि ऐसा नहीं माना जाए तो कर्म-शक्ति पर आत्मशक्ति की विजय कैसे होगी? फिर तप-संयमादि सभी साधनाएँ व्यर्थ हो जायेंगी और जीव संसार से मुक्त होने की अपेक्षा संसार में ही सदा-सदा के लिए रमण करता रहेगा, इसलिए कर्मचक्र की अन्वगत गति को रोकने में सम्यक् पुरुषार्थी जीव जिसमें आत्म स्वभाव के प्रति दृढ़ श्रद्धा-प्रतीति हो, सर्वथा सक्षम है। बस, जरूरत है उसे जाग्रत होने की। जीव जब तक राग-द्वेष की मूर्च्छा में रहेगा, अज्ञानावस्था में रहेगा, तब तक कर्म के अधीन रहेगा। इसलिए स्वाधीन रहने के लिए जीव को भेद-विज्ञान पूर्वक अपने अनंतचतुष्टय रूप मूल स्वभाव को जानकर तदनुरूप आचरण करना आवश्यक बताया गया है।

यह परम सत्य है कि बद्ध होने से पहले तक जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मबद्ध होने के बाद वह कर्म परतन्त्र हो जाता है। लेकिन जीव कर्मों से जब बद्ध हो जाता है तो बँधे हुए कर्मों को तप, त्याग, ध्यान आदि के माध्यम से कर्मों की संवर-निर्जरा अर्थात् नवीन कर्मों का निरोध और पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर सम्पूर्ण कर्मों पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने अभीष्ट लक्ष्य यानि मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

वास्तव में जैन कर्म-सिद्धांत कर्म के दर्शन-ज्ञान और आचार पक्ष का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत करते हुए जगत के समस्त कर्मस्रोतों, कर्मबंधों तथा उनके निरोध और क्षय की वैज्ञानिक पद्धति को ही नहीं दर्शाता है अपितु जगत के जीवों को कर्म से मुक्त होने के लिए प्रेरित भी करता है, सम्यक् मार्ग भी दिखाता है।

"सचित्र कर्म-विज्ञान" की यह पुस्तक जैनदर्शन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत "कर्म-सिद्धांत" का चित्रमय शैली में प्रस्तुतिकरण है। इस पुस्तक में कर्म-सिद्धांत जैसे गूढ़ विषय को भावपरक चित्रों के माध्यम से सरल एवं स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इसका अध्ययन-मनन करके सुज्ञ पाठक वर्ग अपने अभीष्ट लक्ष्य को सिद्ध कर सकें, इसी मंगल कामना के साथ.....।

अमरावती

31 जुलाई 2015

—मुनि डॉ. पदमचन्द्र



**सं**सार का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मागुणानुसार जन्म लेता है और तदनुसार जीवन को भोगता है, जीता है। किसी का जीवन सुख में बीत रहा है तो कोई दुःख से घिरा है। इन प्राणियों के सुख-दुःख का मूल कारण है कर्मा मोह-मिथ्यात्व, प्रमाद, अविचरिता, कषाय, योग आदि के ब्याध-पापी से इन कर्म-बीजों का जब फललवन व पोषण होता है तो कर्म का एक बटवृक्ष खड़ा हो जाता है, जिसमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अंतराय की शाखाएँ-प्रशाखाएँ फलने-फूलने लगती हैं। कर्म का यह बटवृक्ष संसार के प्रत्येक प्राणी को अपनी छत्र-छाया में नचाता है, हँसाता है और कलाता है। जीवन का सारा क्रम, अनुक्रम और उपक्रम अन्ततः कर्म के अधीन हो जाता है।

कर्माधीन अज्ञानी प्राणी अपने यथार्थ स्वरूप को, स्वभाव को और शक्ति को भूल जाता है। स्वभाव से विश्वासों में जीना शुरू कर देता है। वैभ्रात्रिक जीवन से प्राणी जन्म और मरण के चंगुल में फँसता चला जाता है। जन्म-मरण का यह चक्र भ्रम-भ्रमंतर चलता रहता है। जन्म-मरण के दुःखों को भोगने वाला प्राणी यदि चाहे तो इससे छूट भी सकता है लेकिन इसके लिए उसे अपने आत्म-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप-स्वभाव और शक्ति को जानना-पहचानना होगा, इसकी ओर अपनी सारी प्रवृत्तियाँ लगानी होंगी। मोह-मिथ्यात्व से हटना होगा और अध्यात्म के अन्तस्म से जुड़ना होगा। इससे जुड़ा प्राणी संयम-तप व ध्यान के माध्यम से अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित होकर अन्ततः सम्यक् पुरुषार्थ को सार्थ करता हुआ मोक्ष पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर उसे न जन्म लेना पड़ता है और न मरण।

जैन कर्म-सिखांत मनुष्य को कर्म करने और कर्म-फल भोगने के साथ-साथ कर्म से मुक्त-विमुक्त होने की प्रक्रिया से भी अवगत और आत्मज्ञात कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके अनुसार प्रत्येक प्राणी स्वयं अपने कर्मों की उत्कीर्णता करता है और अपने द्वारा ही कर्मों का संवर-आस्रव का निरोध भी करता है। कोई दूसरी शक्ति या सत्ता इस कार्य में अपना कोई योगदान नहीं कर सकती। प्राणी स्वयं अपने कर्मों का कर्ता है और भोक्ता है। प्राणी कर्म से रहित होने की स्वयं यात्रा करता है।

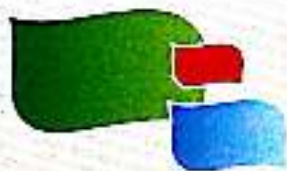
हमारी आस्था के केन्द्र, जल-जल के उपकारी स्थानकवासी समग्रकाय के प्रभावक सतत **पूज्य गुरुदेव डॉ. पद्मचन्द्र जी. म. सा.** द्वारा प्रणीत लगभग सौ संवीन चित्रों से सुसज्जित और अद्भुत अध्यायों में लिखित "सचित्र कर्म-विज्ञान" नामक पुस्तक कर्म-सिखांत के क्षेत्र में जहाँ अभिलषिता को दर्शाती है, वहाँ पाठक-वृन्द कर्म-कौतुक से भी अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। यह भी तथ्य है कि पाठक के हाथ में यह पुस्तक आते ही वह इसे एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने के लिए जहाँ उत्सुक रहेगा, वहीं दूसरों को पढ़ने के लिए भी प्रेरित किए बिना नहीं रह पाएगा। यद्यपि 'कर्म' पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है, लेकिन चित्रों के साथ कर्म के रूप-स्वरूप, कर्म के अस्तित्व, कर्म की प्रकृति, बंध के कारण और फल-भोग आदि विषयों को प्रभावक व आगम सम्मत उदाहरणों के माध्यम से संक्षिप्त, सरल, बोचक तथा सामान्य से सामान्य जन की मेधा शक्ति को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया गया है, वस्तुतः बड़ी बात है। इस उपयोगी और उपदेयी कृति के लिए हम अब परम पूज्य महाबाज साहब के सदा ऋणी तो हैं ही, साथ ही उनके पावन आशीर्वाद की चाहना भी लिए हुए हैं।

इस सचित्र पुस्तक के प्रकाशन के सभी सहयोगियों के प्रति यह द्रष्ट दार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है, साथ ही साज-सज्जा, सुन्दर मुद्रण और भाव-परक चित्रों की रचना में साहित्यकार श्री संजय सुराणा का भी द्रष्ट आभारी है।

ग्रह संशोधनादि में प्रमादवश कहीं कोई अशुद्धि रह गई हो तो उसके हम क्षमाप्रार्थी हैं। अशुद्धि-परिहार के लिए हम पाठकवृन्द से निवेदन भी करते हैं कि वे इस दिशा में अपना बहुमूल्य सहयोग देकर हमें कृतार्थ करेंगे।

—ज्ञानचंद्र मुणोत, अध्यक्ष

श्री जयमल जैन पार्ष्व पशोदय फाउण्डेशन, चेन्नई





## क्र.सं. क्या ? कहां ?

1.	कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान	1
2.	आधुनिक विज्ञान उत्तरहीन	2
3.	आओ समझें कि कर्म क्या है?	2
4.	कर्मों का अस्तित्व है	3
5.	कर्म सिद्धान्त को समझने के लिए आत्मा पर विश्वास करना आवश्यक	3
6.	आत्मा शाश्वत है	5
7.	आत्मा ही कर्म का कर्ता है	6
8.	आत्मा ही कर्म-फल का भोक्ता है	7
9.	यह कर्म वर्गणाएँ क्या हैं?	8
10.	कर्म बन्धन कैसे होता है?	10
11.	कर्मों से छुटकारा सम्भव है	12
12.	कर्मबन्ध के प्रकार	14
13.	कर्मबन्ध की विभिन्न अवस्थाएँ	17
14.	कर्मबन्ध की श्रेणियाँ (माप)	22
15.	आठ कर्मों के क्रम का कारण	24
16.	कर्म पुद्गल किस रूप से कितनी मात्रा में आत्मा के ऊपर लगते हैं?	24
17.	कर्मों की प्रकृतियाँ (प्रकार)	25
18.	कर्म के आठ मुख्य प्रकार (मूल प्रकृतियाँ)	25
19.	चलो कर्म को उपमाओं द्वारा समझें	27
20.	आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ, बन्ध के कारण और फल भोग	29

## क्र.सं. क्या ? कहां ?

(1)	ज्ञानावरणीय कर्म	29
	उत्तर प्रकृतियाँ	30
	बन्ध के कारण	30
	फलभोग	31
	निवारण के उपाय	32
	स्थिति और अबाधाकाल	32
	माष-तुष मुनि की कथा (ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव)	33
(2)	दर्शनावरणीय कर्म	34
	उत्तरप्रकृतियाँ	34
	बन्ध के कारण	36
	फलभोग	36
	निवारण के उपाय	36
	स्थिति और अबाधाकाल	36
	आनन्द श्रावक की कथा (दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम का प्रभाव)	37
(3)	वेदनीय कर्म	39
	उत्तर प्रकृतियाँ	39
	बन्ध के कारण	39
	फलभोग	40
	निवारण के उपाय	40
	स्थिति और अबाधाकाल	40



**क्र.सं.****क्या ?****कहाँ ?****क्र.सं.****क्या ?****कहाँ ?**

सुबाहुकुमार की कथा  
(सातावेदनीय कर्म का बंध) 41

नागश्री ब्राह्मणी की कथा  
(असातावेदनीय कर्म का बंध) 42

(4) मोहनीय कर्म 44

उत्तर प्रकृतियाँ 44

बन्ध के कारण 51

फलभोग 51

निवारण के उपाय 51

स्थिति और अबाधाकाल 51

साध्वी सुकुमालिका की कथा  
(मोहनीय कर्म का बंध) 52

(5) आयुष्य कर्म 54

उत्तर प्रकृतियाँ 55

बन्ध के कारण 55

फलभोग 58

निवारण के उपाय 58

स्थिति और अबाधाकाल 58

जोर्ण सेठ की कथा  
(देवायुष्य का बंध) 59

संगम ग्वाला की कथा  
(मनुष्यायुष्य का बंध) 60

शिवभूति और वसुभूति  
(तिर्यच आयुष्य का बंध) 61

अत्याचारी अभग्नसेन की कथा  
(नरकायुष्य का बंध) 62

(6) नाम कर्म 63

उत्तर प्रकृतियाँ 63

बन्ध के कारण 76

फलभोग 76

तीर्थकर नामकर्म बन्ध के कारण 77

अशुभ नामकर्म के निवारण के उपाय 78

स्थिति और अबाधाकाल 78

श्रीकृष्ण की धर्म दलाली  
(शुभ नामकर्म का बंध) 79

मृगापुत्र (लोढ़िया) की कथा  
(अशुभ नामकर्म का बंध) 80

(7) गोत्र कर्म 81

उत्तर प्रकृतियाँ 81

बन्ध के कारण 81

फलभोग 83

निवारण के उपाय 83

स्थिति और अबाधाकाल 83

हरिकेशबल की कथा  
(निम्न गोत्र कर्म का बंध) 84

(8) अन्तराय कर्म 83

उत्तर प्रकृतियाँ 87

बन्ध के कारण 87

फलभोग 89

निवारण के उपाय 89

स्थिति और अबाधाकाल 89

दंडण कुमार की कथा  
(अंतराय कर्म का बंध) 89

28. परिशिष्ट 1 91

आठ कर्मों की पुण्य एवं पाप प्रकृतियाँ 91



## कर्म विज्ञान

यह सारा जगत् अनेक विचित्रताओं से भरा हुआ है। संसार में कोई भी जीव समान नहीं है। कोई जीव एक इन्द्रिय वाला है, कोई दो इन्द्रिय वाला, कोई तीन तो कोई चार व पाँच इन्द्रिय वाला है। किसी प्राणी की चेतना बहुत विकसित है। बुद्धि प्रखर है। शरीर व इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं तो किसी प्राणी की आत्म-चेतना बहुत अल्पविकसित है। बुद्धि-मंद है। शरीर से रोगी है, इन्द्रियाँ भी हौन हैं। इस प्रकार संसार में कोई भी आत्मा या जीव समान नहीं दिखता। प्रत्येक जीव के बीच इतनी असमानता व भिन्नता है कि देखकर विस्मय एवं कुतूहल होता है कि यह कौन कलाकार है जिसने इतनी कुशलता व चतुरता के साथ प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का निर्माण किया है कि सभी परस्पर एक-दूसरे से भिन्न और असमान दिखाई देते हैं।

प्रकृति के अन्य अंगों को छोड़ दें, सिर्फ मनुष्य जाति पर ही विचार करें तो हम देखेंगे, भारत के 120 करोड़ मनुष्यों में कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं मिलते। उनकी आकृति में भेद है, प्रकृति में भेद है। कृति, मति, गति और संस्कृति में भी भेद है। विचार और



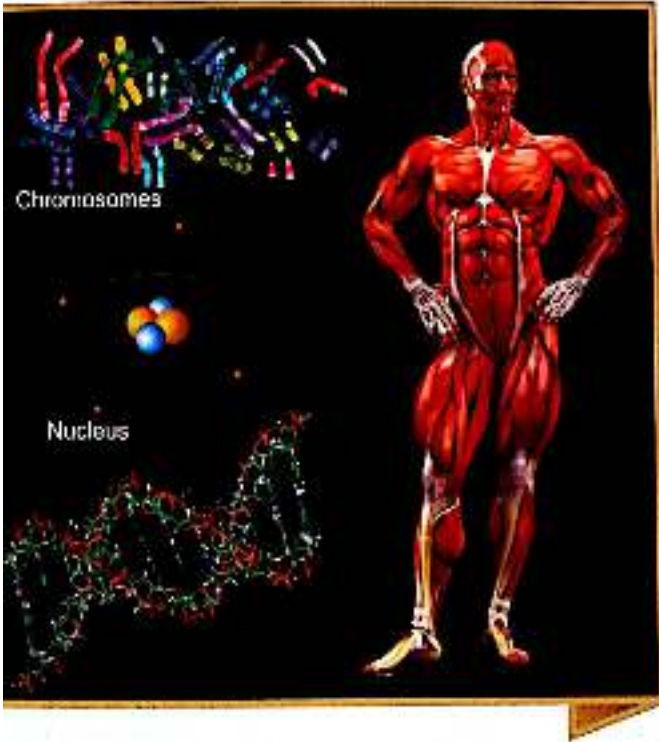
भावना में भेद है। तब प्रश्न उठता है कि आखिर यह भेद या अन्तर क्यों है? किसने किया है? इसका कारण क्या है?

### 1.1. कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान

प्रकृतिजन्य अन्तर या भेद के कारणों पर तो वैज्ञानिकों ने बड़ी सूक्ष्मता और व्यापकता से विचार किया है और उन्होंने एक कारण खोज निकाला—हेरिडिटी (Heredity) वंशानुक्रम।

वैज्ञानिकों का कहना है कि हमारा शरीर कोशिकाओं द्वारा निर्मित है। एक कोशिका (एक सेल) कितना छोटा होता है, इस विषय में विज्ञान की खोज है—एक पिन की नोक पर टिके इतने स्थान पर लाखों लाख सूक्ष्म कोशिकाएँ हैं। उन सूक्ष्म कोशिकाओं में जीवन-रस है। उस जीवन-रस में जीवकेन्द्र न्यूक्लीयस (Nucleus) है। जीवकेन्द्र में क्रोमोसोम (Chromosomes) गुणसूत्र विद्यमान हैं। उनमें जीन

(जीन्स—Genes) हैं। जीन में संस्कारसूत्र हैं। ये जीन (Genes) ही सन्तान में माता-पिता के संस्कारों के वाहक या





उत्तराधिकारी होते हैं। एक जीन जो बहुत ही सूक्ष्म होता है, उसमें छह लाख संस्कारसूत्र अंकित होते हैं। इन संस्कारसूत्रों के कारण ही मनुष्यों की आकृति, प्रकृति, भावना और व्यवहार में अन्तर आता है।

इस वंशानुक्रम विज्ञान (जीन सिस्टमोलोजी) का आज बहुत विकास हो चुका है। यद्यपि वंशानुक्रम के कारण अन्तर की बात प्राचीन आयुर्वेद एवं जैन आगमों में भी उपलब्ध है। आयुर्वेद के अनुसार पैतृक गुण अर्थात् माता-पिता के संस्कारगत गुण सन्तान में आते हैं। भगवान महावीर ने भी भगवती सूत्र तथा स्थानांग सूत्र में जीन को मातृअंग-पितृअंग के रूप में निरूपित किया है। इसलिए आधुनिक विज्ञान में वंशानुक्रम विज्ञान की खोज कोई नई बात नहीं है।



जीन के कारण पाँ-बेटी का एक समान चेहरा

### 1.2. आधुनिक विज्ञान उत्तरहीन

यह निश्चित है कि माता-पिता के संस्कार सन्तान में संक्रमित होते हैं और वे मानव व्यक्तित्व के मूल घटक होते हैं। परन्तु देखा जाता है कि एक ही माता-पिता की दो सन्तान—एक समान वातावरण में, एक समान पर्यावरण में पलने पर, एक समान संस्कार और शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी दोनों में बहुत-सी असमानताएँ रहती हैं। एक समान जीन्स होने पर भी दोनों के विकास में, व्यवहार में, बुद्धि और आचरण में भेद मिलता है। एक अनपढ़ माता-पिता का बेटा प्रखर बुद्धिमान् और एक डरपोक कायर माता-पिता की सन्तान अत्यन्त साहसी, वीर, शक्तिशाली निकल जाती है। सगे दो भाइयों में से एक का स्वर मधुर है, कर्णप्रिय है, तो दूसरे का कर्कश है। एक चतुर चालाक वकील है, तो दूसरा अत्यन्त शान्तिप्रिय, सत्यवादी हरिश्चन्द्र है। बुद्धिमान् बाप की संतान मन्द बुद्धि निकल जाती है। ऐसा क्यों ?

वंशानुक्रम विज्ञान के पास इन प्रश्नों का आज भी कोई उत्तर नहीं है। मनोविज्ञान भी यहाँ मौन है। एक सीमा तक जीन्स का अन्तर समझ में आ सकता है। परन्तु जीन्स में यह अन्तर पैदा करने वाला कौन है ? विज्ञान वहीं पर मौन रहता है, तब हम कर्म-सिद्धान्त की ओर बढ़ते हैं।



कर्म जीन से भी अत्यन्त सूक्ष्म सूक्ष्मतर है और जीन की तरह प्रत्येक प्राणधारी के साथ जुड़ा हुआ है। अतः जब हम सोचते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद है, अन्तर है, उसका मूल कारण क्या है ? तो कर्म शब्द में इसका समाधान मिलता है। कर्म की विभिन्न प्रकृतियों का सूक्ष्म विवेचन समझने पर यह बात स्पष्ट होती है कि असमानता एवं विविधता का कारण कर्म है।

### 1.3. आओ समझें कि कर्म क्या है ?

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—“भगवन् ! इन प्राणियों में परस्पर इतना विभेद क्यों है ?” तो भगवान महावीर स्वामी ने इतना स्पष्ट और सटीक उत्तर दिया कि “गौयमा ! कम्मओ णं विभत्तीभावं जणायइ ।—हे गौतम ! कर्म के कारण यह भेद है। कर्म ही प्रत्येक प्राणी के व्यक्तित्व का घटक है। कर्म ही संसार की विचित्रता का कारण है।”



बहुत से धर्मचिन्तकों एवं दार्शनिकों ने कर्म को संस्कार के रूप में भी बताया है। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कर्म एक विशेष शब्द है। यहाँ कर्म का अर्थ कुछ विलक्षण एवं विशिष्ट है और साथ ही वह विज्ञानसम्मत भी है। जैन-दृष्टि में कर्म-शब्द का लक्षण इस प्रकार है—

कीरइ जीएण हेऊहिं जेणं तु भण्णए कम्मं।

—जीव की अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रिया द्वारा अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन पाँच कारणों से प्रेरित होकर आत्मा जो वर्गणाएँ अपनी ओर आकर्षित करता है, वह कर्म कहलाता है।

#### 1.4. कर्मों का अस्तित्व है

संसारी आत्मा को काषायिक परिणति एवं योग क्रिया से, उसके निकट वहीं आकाश (खाली स्थान) में रही हुई कर्म



रूपी अदृश्य धूल का आत्मा से चिपक कर सम्बन्ध होना कर्म है। विस्तृत रूप से कहा जा सकता है कि कर्म नाम का यह अजीब ही एक विजातीय पदार्थ है, जो आत्माओं की स्थिति में भेद

डालता है, विरूपता या विभिन्नता पैदा करता है। जैसे सौ टंची सोना शुद्ध है, लेकिन उसमें विजातीय तत्व—'खोट' तांबा मिल जाने पर विविधता या विरूपता पैदा हो जाती है। इसी प्रकार आत्माओं के साथ कर्म नामक विजातीय अजीब पुद्गल मिल जाने से आत्माओं में विरूपता या विभिन्नता पैदा हो जाती है। इस तरह आत्माओं (जीवों) में अशुद्धता, विभिन्नता या विषमताओं का एक बीज (मुख्य) कारण है—कर्म। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—

'कम्मुणा उवाही जायइ।'

— आचा. 1/3/1

"कर्मबीज के कारण ही जीवों की नाना उपाधियाँ हैं, विविध अवस्थाएँ हैं।"

आत्मा की विभिन्न सांसारिक अवस्थाओं के लिए सभी आत्मवादी दार्शनिकों ने कर्म को ही कारण माना है।

#### 1.5. कर्म सिद्धान्त को समझने के लिए आत्मा पर विश्वास करना आवश्यक

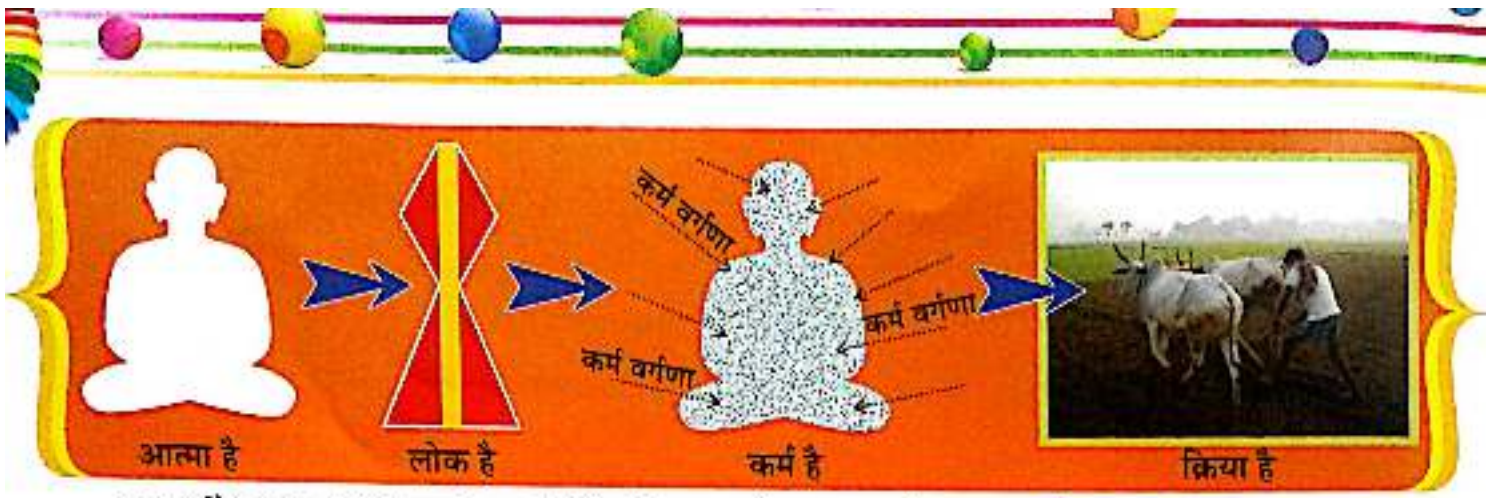
कर्म सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से विश्वास करने, मानने, समझने, जानने के लिये हमें आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करना होगा। क्योंकि कर्म रूपी पदार्थ आत्मा के साथ संयोग करके ही संसारी जीव को विभिन्न फल देता है। अतः सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारना होगा। केवलज्ञान के अस्तित्व को भी स्वीकारना होगा। इस सम्बन्ध में भगवान महावीर स्वामी ने आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से फरमाया है—

"से आयावायी लोयावायी कम्मावायी किरयावायी।"

— आचा. 1/1/1

जो आत्मवादी (आत्मा को जानने-मानने वाला) होता है, वह लोकवादी (इहलोक-परलोक आदि को मानने वाला) अवश्य होता है और जो लोकवादी होता है, उसे शुभ-अशुभ कर्म को अवश्य मानना होता है, इसलिए वह कर्मवादी अवश्य होता है और जो कर्मवादी होता है, उसे क्रियावादी अवश्य ही होना पड़ता है, क्योंकि क्रिया ही कर्मों का कारण है।





अतः हमें यह श्रद्धा-विश्वास करना चाहिए कि आत्मा है, वह ज्ञानादि गुण सम्पन्न है। वह ध्रुव है, शाश्वत है। जानना, समझना, चिन्तन-मनन करना, अनुभव करना और स्मृति रखना इत्यादि आत्मा के कार्य हैं।

जिस प्रकार रूपी होते हुए भी हवा दिखाई नहीं देती, शब्द दिखाई नहीं देते परन्तु हम इनका अस्तित्व मानते हैं। उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व भी मानना चाहिए। परन्तु प्रश्न है कि शब्द तो सुनाई देते हैं? इसलिए उनका अस्तित्व मानते हैं। आत्मा का अस्तित्व कैसे मानेंगे? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि मनुष्य कानों से सुनता है, परन्तु सुनी हुई बात वर्षों तक याद कौन रखता है?—कान? नहीं, स्मृति रखना कानों का कार्य नहीं, गुण नहीं, कान तो सुनने का साधन मात्र है। सुनने वाला आत्मा ही है। कान बहरे हो जाने, कट जाने या बेकार (निष्क्रिय) होने पर भी स्मृति रहती है, पुरानी सुनी हुई बातें याद रहती हैं।



आँखें देखने का काम करती हैं, परन्तु वर्षों पूर्व देखे हुए दृश्य याद नहीं रख सकती। याद जीव ही रखता है। आँखों की ज्योति मन्द होने पर भी स्मृति मन्द नहीं होती। आँखों की ज्योति सर्वथा नष्ट होने पर भी पूर्व के देखे हुए दृश्यों की स्मृति बराबर स्थिर रहती है। इसी प्रकार गन्ध, रस तथा स्पर्श सम्बन्धी स्मृतियाँ भी रहती हैं और उन स्मृतियों का धारक आत्मा है।

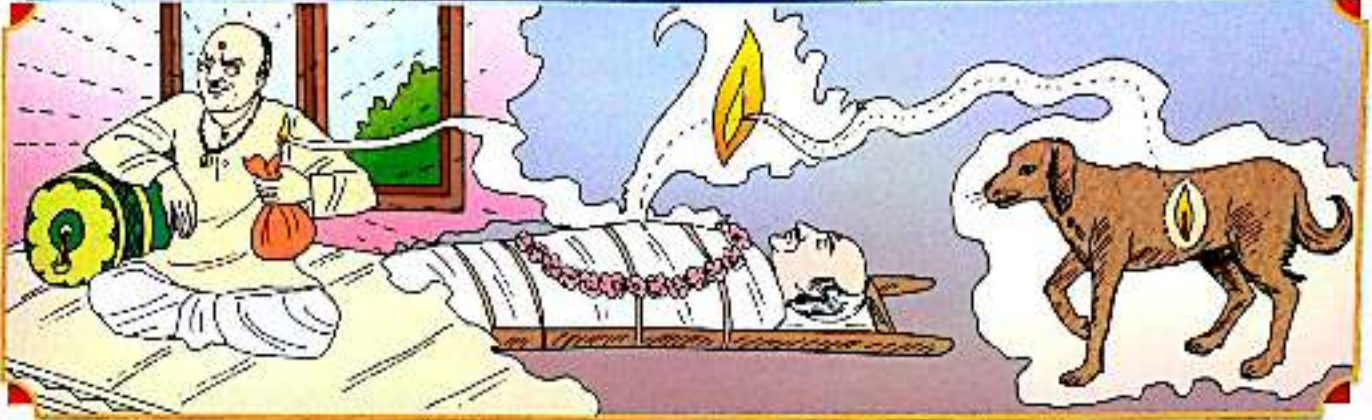
इन सब बातों पर विचार करके आत्मा का अस्तित्व मानना ही उचित है, सत्य है और तथ्य है। आत्मा स्व-शरीर प्रमाण है, असंख्य प्रदेशी है, अरूपी है और दूध में घी, तिल में तेल और पुष्प में सुगन्ध के समान शरीर में निवास करती है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना कर्म सिद्धान्त की नींव है। इसी श्रद्धा-विश्वास पर कर्म सिद्धान्त का सम्पूर्ण अस्तित्व टिका हुआ है।



## 1.6. आत्मा शाश्वत है

आत्मा का शरीर में अस्तित्व मानने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आत्मा इस भौतिक शरीर की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होकर मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जाती है या इसके पूर्व-पश्चात् भी इसका अस्तित्व रहता है? 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' को मानने वाला यह मानता है कि जीव है, किन्तु वह शरीर की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होता है और विनाश के साथ ही नष्ट भी हो जाता है। रायपसेणीय सूत्र में वर्णित राजा प्रदेशी की मान्यता भी ऐसी ही थी।

**शरीर सुरक्षित रहते हुए भी आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है।**



श्वेताम्बिका नगरी का नास्तिक राजा प्रदेशी और चार ज्ञान के धारक महान् विद्वान् पार्श्वपत्य केशीकुमार श्रमण-दोनों के बीच में जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में- "शरीर और जीव भिन्न हैं या एक ही हैं?" इस विषय में प्रश्नोत्तर होते हैं, तर्क-वितर्क होते हैं। प्रदेशी राजा अपने अनुभव और युक्तियाँ प्रस्तुत करके, जीव और शरीर को एक ही सिद्ध करने का प्रयास करता है और केशीकुमार श्रमण बड़े रोचक, युक्तिपूर्ण दृष्टान्त, उदाहरण देकर जीव को शरीर से भिन्न चेतन तत्त्व सिद्ध करते हैं। उनके तर्क इतने युक्तियुक्त, अनुभवपूर्ण और अकाट्य होते हैं कि अन्त में परम अधार्मिक कट्टर नास्तिक प्रदेशी राजा उनके सामने झुक जाता है, स्वीकार करता है- "आपका कथन सत्य है, मैं आज तक भूल करता रहा, गलत मानता रहा।"

केशीकुमार श्रमण ने अरणि काष्ठ का उदाहरण देकर बताया- "अरणि में अग्नि विद्यमान है, परन्तु उसे पाने के लिए उसके टुकड़े-टुकड़े करने की जरूरत नहीं होती, जरूरत है घर्षण की।" इसी पक्ष पर दर्शनशास्त्र में अन्य उदाहरण भी दिये जाते हैं। जैसे दूध में घी रहता है, तिलों में तेल रहता है, माचिस की नौक पर अग्नि रहती है, बिजली के तारों में विद्युत् प्रवाह तरंगित रहता है किन्तु कभी दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार शरीर में चेतना या आत्मा विद्यमान है। शरीर में विद्यमान चैतन्य के दर्शन करने के लिए चिन्तन, ध्यान, मनन, तप आदि क्रियाओं की जरूरत है। जिसे इन क्रियाओं की विधि का ज्ञान प्राप्त है वही देह में स्थित चैतन्य सत्ता का अनुभव-दर्शन कर सकता है।

यदि हम मानते हैं कि शरीर के साथ ही जीव की उत्पत्ति होती तो जब तक शरीर रहे तब तक जीव भी रहेगा। किन्तु शरीर पूर्णरूप से सुरक्षित बिना नष्ट हुए भी जीव शरीर में से निकल जाता है और मृत्यु हो जाती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जीव शरीर से भिन्न है और वह शरीर रहते हुए भी उसे छोड़कर अन्यत्र चला जाता है और पुनः नया शरीर बना लेता है।

जीव न तो नया उत्पन्न होता है और न सर्वथा मरता-नष्ट होता है। जैन-दर्शन मानता है कि जीव शाश्वत है, नित्य है और अनादिनिधन है, अक्षय, अमर एवं अविनाशी है।

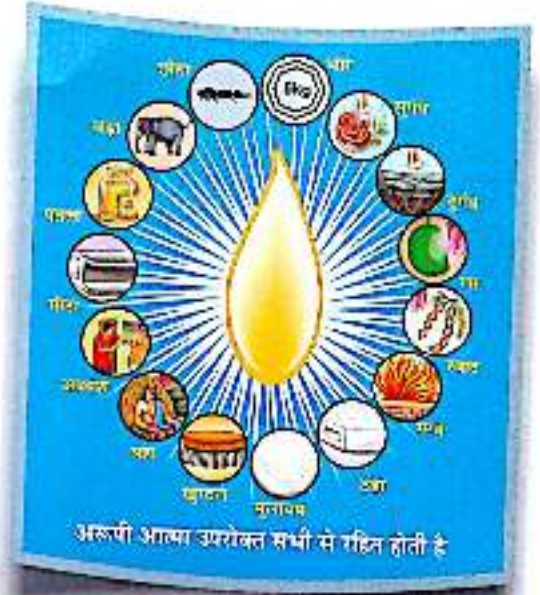


आत्मा एक अरूपी द्रव्य है जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं होता। यह असंख्यात प्रदेशों से बनी हुई है। आत्मा में प्रदेशों का विस्तार करने और संकुचन करने की शक्ति होती है। आत्मा अप्रतिहतगति शक्ति वाली होती है। शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा को केवलज्ञान-केवलदर्शन के द्वारा ही देखा जा सकता है।

### 1.7. आत्मा ही कर्म का कर्ता है

आत्मा है और शाश्वत है। इतना मान लेने पर अब यह समझना आवश्यक है कि यह जीवात्मा कुछ करता भी है या अजीव के समान अकर्ता (निष्क्रिय) है?

हाँ, जीवात्मा ही कर्म का कर्ता है। संसारी जीव योग सहित है, जिससे वह क्रिया करता है और इस क्रिया से कर्म एवं कार्य बनता है। जीव अव्यवसायों से युक्त है। इच्छा, कामना और सोच-विचार से जो परिणति (Result) उत्पन्न होती है, वह भाव कर्म है और भाव-कर्म से कामगण वर्गणाओं के पुद्गल आत्मा के साथ जुड़ते हैं, वह द्रव्य-कर्म है। जीव के दृश्य कर्म (दृश्यमान कार्य किये जाते हुए या किये गये कार्य के, प्राप्त शुभाशुभ फल के रूप में) प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। किन्तु इसको पूर्व-दशा तो उसी समय उत्पन्न भाव (अदृश्य) कर्म है। जीव की कषायिक परिणति और योग-व्यापार से कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध ही यथासमय द्रव्य-भाव कर्म उत्पन्न करता है।



सभी जीव अपने-अपने कर्मों के स्वयं कर्ता हैं। उनके कर्म न तो किसी दूसरों के द्वारा निर्माण हुए और न वे किसी दूसरे के कर्मों का निर्माण कर सकते हैं। आत्मा स्वयं अपने कर्म की कर्ता है—“अप्या कर्ता विकर्ता य।”—उत्तरा. 20/37

क्रिया ही कर्म की जननी है। आत्मा सक्रिय है, जड़ के समान निष्क्रिय नहीं। इसकी ज्ञान-दर्शन रूप भाव-क्रिया तो सतत चलती ही रहती है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप, भाव-क्रिया से आत्मा एक क्षण—एक सूक्ष्म समय भी वंचित नहीं रह सकता, क्योंकि यही उसका स्वभाव है। यहाँ यह बात जानने योग्य है कि यदि आत्मा अपने स्वभाव में स्थित है, राग-द्वेष एवं योग से रहित शुद्ध एवं परम पवित्र है, तो उसके भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म उत्पन्न नहीं होते।





अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा तो अरूपी मानी जाती है, तो वह रूपी कर्म की कर्ता कैसे बन सकती है?

व्यवहार नय की दृष्टि से कर्म का कर्ता आत्मा है किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से कर्म का

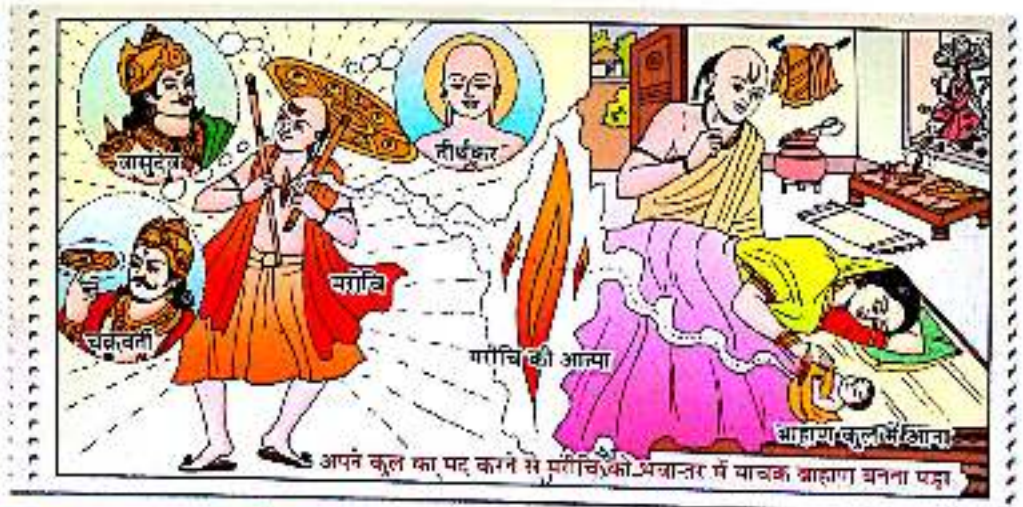
कर्ता कर्म है। आत्मा कार्मण शरीर के साथ अनादिकाल से बंधी होने से एक अपेक्षा से रूपी है। इसलिए इसका बंध होता है। मुक्त सिद्धात्मा सम्पूर्ण रूप से अरूपी है। इसका फिर किसी कर्म के साथ बंध नहीं होता। अब व्यवहार रूप से भी हम जानते हैं कि जैसे कोई आदमी मदिरापान करता है तो उसकी बुद्धि मदहोश हो जाती है और ब्राह्मी तेल का उपयोग करे तो उसकी बुद्धि सतेज बनती है। इसी तरह कर्म रूपी होते हुए भी अरूपी आत्मा के ऊपर अपना प्रभाव डालते हैं और वह आत्मा रूपी कर्म की कर्ता बन सकती है। एक उदाहरण द्वारा इसे और स्पष्ट कर सकते हैं—जिस प्रकार कारागृह में रहा हुआ बन्दी, अपनी दुष्प्रवृत्तियों से पुनः दण्ड पाता रहता है, उसी प्रकार कर्म युक्त आत्मा भी कर्म करता रहता है।

### 1.8. आत्मा ही कर्म-फल का भोक्ता है

आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है, शाश्वत है और अच्छे-बुरे कर्मों का कर्ता है। इतना मान लेने के बाद आत्मा को कर्म के फल का भोग करने वाला भी मानना ही चाहिए। जीव कर्ता तो हो, परन्तु भोक्ता नहीं हो, यह कैसे हो सकता है?

जैसे—औषधी खाने से रोग-निवृत्ति, विष-भक्षण से प्राणनाश, भोजन करने से क्षुधा मिटना, पानी पीने से प्यास मिटना, गर्म वस्त्रों से शीत निवारण और चोरी, हत्या आदि के फलस्वरूप दण्ड-भोग आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले कर्म-फल हैं। उसी प्रकार परोक्ष रूप से किये गये कर्मों का फल भी परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में मिलता है। कर्मों का फल यहाँ इस भव में ही मिलता है—ऐसा आवश्यक नहीं। कई कर्मों का फल यहीं मिल जाता है और कई कर्मों का अगले भवों में प्राप्त होता है। जैसे कि ऋषभदेव के पौत्र मरीचि ने कुल मद किया तो भवान्तर में वह ब्राह्मण बना।

कर्मों के फल भोग में उदयानुसार तरतमता होती है, उदय सूक्ष्म भी होता है और स्थूल भी। जघन्य एवं सामान्य मध्यम उदय का फल-भोग अनजाने में भी हो जाता है। जैसे किसी व्यक्ति के पेट में सामान्य उदर-विकार हो, हलका-सा दर्द हो रहा हो, किन्तु उसी समय उसे किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने की प्रसन्नता हो, तो





वह उस दर्द को भूल कर सुख का अनुभव करता है। उसी प्रकार जघन्य अथवा सामान्य मध्यम प्रकार का दुःखानुभव, विशिष्ट सुखानुभव में दब कर रह जाता है।

कई फल-भोग ऐसे होते हैं, जिनका उदय एवं क्षयोपशम विचित्र प्रकार का होता है। थोड़ी देर में उदय और थोड़ी देर में उपशान्त, पुनः उदय पुनः उपशान्त। जैसे—पेट में हल्का-सा दर्द हो। थोड़ी देर दर्द रहकर रुक गया और फिर होने लगता हो।

अगर कर्म निकाचित रूप से बंध गए हों तो उसका रसानुसार फल अवश्य भोगना पड़ता है; किन्तु फल भोगते समय अगर वह राग-द्वेष, कपायादि न करे; समभाव, सहिष्णुता, शान्ति एवं धैर्य रखे तो वे कर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं, परन्तु उस समय समभाव आदि न रखे, आर्त्त-रौद्रध्यान करे, निमित्तों को कोसे तो नये अशुभ कर्म और बंध जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि कर्मों का कर्त्ता स्वयमेव आत्मा है, भोक्ता भी वही है। एक के बदले दूसरा उस कर्म का फल नहीं भोग सकता, न ही कर्मफल स्वरूप आने वाले दुःख को कोई दूसरा बाँट सकता है। जिस प्रकार के कर्म पुद्गल या कर्म वर्गणाएँ आत्मा पर लग जाती हैं, जीव उसी अनुसार फल पाता है।

### 1.9. यह कर्म वर्गणाएँ क्या हैं?

लोक में जीव अनन्त है, पुद्गल भी अनन्त हैं। जीव और पुद्गल एक-दूसरे पर अपना असर करते हैं। कुछ पुद्गलों को जीव ग्रहण कर सकता है, उन्हें ग्राह्य पुद्गल कहते हैं और कुछ पुद्गलों को जीव ग्रहण नहीं कर सकता उन्हें अग्राह्य पुद्गल कहते हैं। ग्रहण करने योग्य पुद्गलों के समूह अथवा जत्थे को वर्गणा कहते हैं। जो वर्गणाएँ कर्म रूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं, जीवात्मा उन्हीं को ग्रहण करके निज आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप से जोड़ देता है;

अर्थात् स्वभाव से जीव अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कर्मसंबन्ध वाला होने से मूर्तवत् हो जाने के कारण मूर्त कर्मपुद्गलों का ग्रहण करता है। जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी ठण्णता से उसे ज्वाला रूप में परिणत कर लेता है; वैसे ही जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप में परिणत कर लेता है। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणत को प्राप्त पुद्गलों का यह संबन्ध ही बन्ध कहलाता है। जीव द्वारा ग्राह्य पुद्गलों की वर्गणाएँ या समूह आठ प्रकार के होते हैं—

The diagram illustrates various types of Karma (Karmavargana) and their effects. It is divided into several sections:

- Top Left:** Aardhha Karma (अर्धहा कर्म वर्गणा) represented by a tree. Below it, a woman and a cow are shown, with the text 'अगले धव में' (In the next birth).
- Top Right:** Vedhya Karma (वेद्य कर्म वर्गणा) represented by a green insect. Below it, a temple and a pot are shown, with the text 'अगले धव में' (In the next birth).
- Bottom Left:** Aardhha Karma (अर्धहा कर्म वर्गणा) represented by a tree. Below it, a man is shown, with the text 'अगले धव में' (In the next birth).
- Bottom Middle:** Manovargana (मनोवर्गणा) represented by a brain. Below it, a man is shown, with the text 'अगले धव में' (In the next birth).
- Bottom Right:** Bhaavavargana (भाववर्गणा) represented by a woman's face. Below it, a man is shown, with the text 'अगले धव में' (In the next birth).
- Bottom Far Right:** Shwasochhवास Vargana (श्वासोच्छवास वर्गणा) represented by a man's face. Below it, a man is shown, with the text 'अगले धव में' (In the next birth).



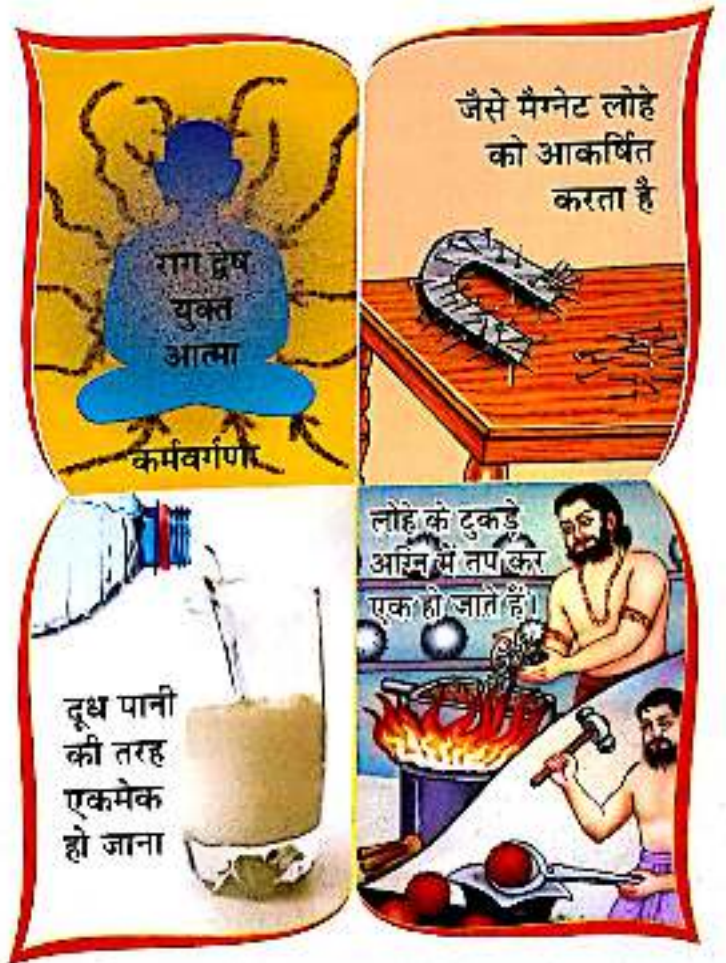
1. औदारिक वर्गणा, 2. वैक्रिय वर्गणा, 3. आहारक वर्गणा, 4. तेजस् वर्गणा,
5. कार्मण वर्गणा, 6. मनोवर्गणा, 7. भाषा वर्गणा, 8. श्वासोच्छ्वास वर्गणा।

1. औदारिक शरीर बनाने के काम आ सके ऐसे औदारिक पुद्गलों के समूह को औदारिक वर्गणा कहते हैं।
2. वैक्रिय शरीर बनाने के काम आ सके ऐसे वैक्रिय पुद्गलों के समूह को वैक्रिय वर्गणा कहते हैं।
3. आहारक शरीर बनाने के काम आ सके ऐसे आहारक पुद्गलों के समूह को आहारक वर्गणा कहते हैं।
4. तेजस् शरीर बनाने के काम आ सके ऐसे तेजस् पुद्गलों के समूह को तेजस् वर्गणा कहते हैं।
5. कार्मण शरीर बनाने के काम आ सके ऐसे कार्मण पुद्गलों के समूह को कार्मण वर्गणा कहते हैं।
6. मनन रूप, विचार रूप, परिणिति करवाने के काम आने वाले पुद्गलों के समूह को मनोवर्गणा कहते हैं।
7. वचन रूप परिणिति करवाने में काम आने वाले पुद्गलों के समूह को भाषा वर्गणा कहते हैं।
8. श्वासोच्छ्वास रूप परिणिति करवाने में काम आने वाले पुद्गलों के समूह को श्वासोच्छ्वास वर्गणा कहते हैं।

यह सभी कर्म वर्गणाएँ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले एक जाति के पुद्गलों का समूह है। आत्मा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित है। परन्तु जब आत्मा मिथ्यात्व आदि के भाव करता है तो उसके भावानुसार उसी प्रकार की कर्म वर्गणाओं के पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसे ही कर्म कहते हैं।

इन कर्म पुद्गलों का असर उसी जीवात्मा पर होता है, जिसका उसके साथ सम्बन्ध होता है। आत्मा के साथ कर्मों का यह सम्बन्ध होना बंध कहलाता है। सरल और व्यावहारिक भाषा में कहें तो कर्म के साथ आत्मा का एकमेक होना कर्म कहलाता है। जैसे—दूध पानी में घुलमिल जाता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म एकमेक हो जाते हैं। वास्तव में आत्मा और कर्म एकमेक नहीं होते पर उनमें आपस में सम्बन्ध हो जाता है।

यों तो आत्मा और कर्म का स्वभाव अलग-अलग है, किन्तु शरीर के साथ बंधा हुआ आत्मा (सांसारिक जीव) जैसे मैग्नेट लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है वैसे ही आत्मा राग-द्वेष के निमित्त से अपने मन-वचन-काया की क्रिया से उस कर्मवर्गणा के पुद्गल-भौतिक कर्म-पदार्थ को अपनी ओर खींचता रहता है। ये कर्म पुद्गल जीव के साथ दुग्ध-जलवत् एवं लोह-अग्निवत् एकमेक रूप से मिल जाते हैं और आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और अनन्त सुख आदि गुणों को आच्छादित करते रहते हैं।





## 1.10. कर्म बन्धन कैसे होता है?

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि आत्मा के साथ कर्म कैसे बंधते हैं? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर बन्धन को समझ लेने पर मिलेगा। संसारी आत्मा प्रवाह-रूप से अनादिकाल से कर्मों के बन्धन में बंधी चली आ रही है। ये शरीर, परिवार, धन, ऐश्वर्य आदि क्या यों ही आ गये हैं? ये सब कर्मबंध के ही परिणाम हैं, चाहे वह बंध शुभ हो या अशुभ।

आगमों में कर्मबंध का मुख्य कारण राग-द्वेष को माना है। किन्तु तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने कर्मबंध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये 5 कारण बतलाये हैं।

जिन कारणों के परिणामस्वरूप कर्मों का बंधन होता है, वे पाँच हैं—

1. **मिथ्यात्व**—मिथ्यात्व कर्मबंध का मूलभूत प्रथम कारण है। जो पदार्थ जिस प्रकार का है, उससे विपरीत रूप में मानना मिथ्यात्व है। जैसे मिथ्यात्व के 10 एवं 25 प्रकार बताये गये हैं। नीचे दिये गये प्रकार भी मिथ्यात्व की श्रेणियों में आते हैं।

1. छोड़ने योग्य को छोड़ने योग्य न मानना।
2. सर्वज्ञ भगवान की वाणी पर श्रद्धा न रखना।
3. जैनधर्म में अश्रद्धा करना।
4. अन्य धर्म पर श्रद्धा करना।
5. कुदेव को अपना देव, कुगुरु को अपना गुरु और कुधर्म को अपना धर्म मानना।
6. सुदेव, सुगुरु और सुधर्म को नहीं मानना।
7. आदर करने योग्य को आदर करने योग्य न मानना।
8. नवतत्व के स्वरूप को जैसा कहा है, वैसा न मानना।
9. अरिहंत भगवान की वाणी से कम, अधिक या विपरीत श्रद्धा—प्ररूपणा करना।

2. **अविरति या अव्रत**—पाप त्याग की प्रतिज्ञा न करना अव्रत कहलाता है। यदि हमने हिंसा आदि पाप-त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की है तो हिंसा न करते हुए भी प्रतिफल हमें इसका दोष लगता रहेगा और हिंसा आदि पाप क्रियाओं का प्रतिसमय कर्मबंध होता रहेगा। जैसे—यदि हम कोई मकान बंद करके बाहर चले जायें, किन्तु इसका नोटिस म्युन्सिपालिटी को नहीं दिया है तो नल, बिजली आदि का टैक्स सतत चालू रहेगा। उसी प्रकार पाप-त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की है तो हमारा पापकर्म हमेशा चालू रहेगा और कर्म का भार बढ़ता रहेगा।

1. व्रत-नियम धारण न करना अव्रत है।
2. विरति के भावों का अभाव अव्रत है।
3. छोड़ने योग्य वस्तुओं को प्रत्याख्यान द्वारा नहीं छोड़ना अव्रत है।

3. **प्रमाद**—यह कर्मबंध का तीसरा कारण है। इन्द्रिय आदि के विषयों में आसक्त बनना प्रमाद है। प्रमाद जीवों को संसार में परिभ्रमण कराते हैं और कर्मबंध के हेतु हैं।

1. अयतनापूर्वक प्रवृत्ति करना प्रमाद है।
2. कषाय से भरा प्रमत्त योग प्रमाद है।
3. आत्मा का विस्मरण प्रमाद है।
4. मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रकार के प्रमाद हैं।



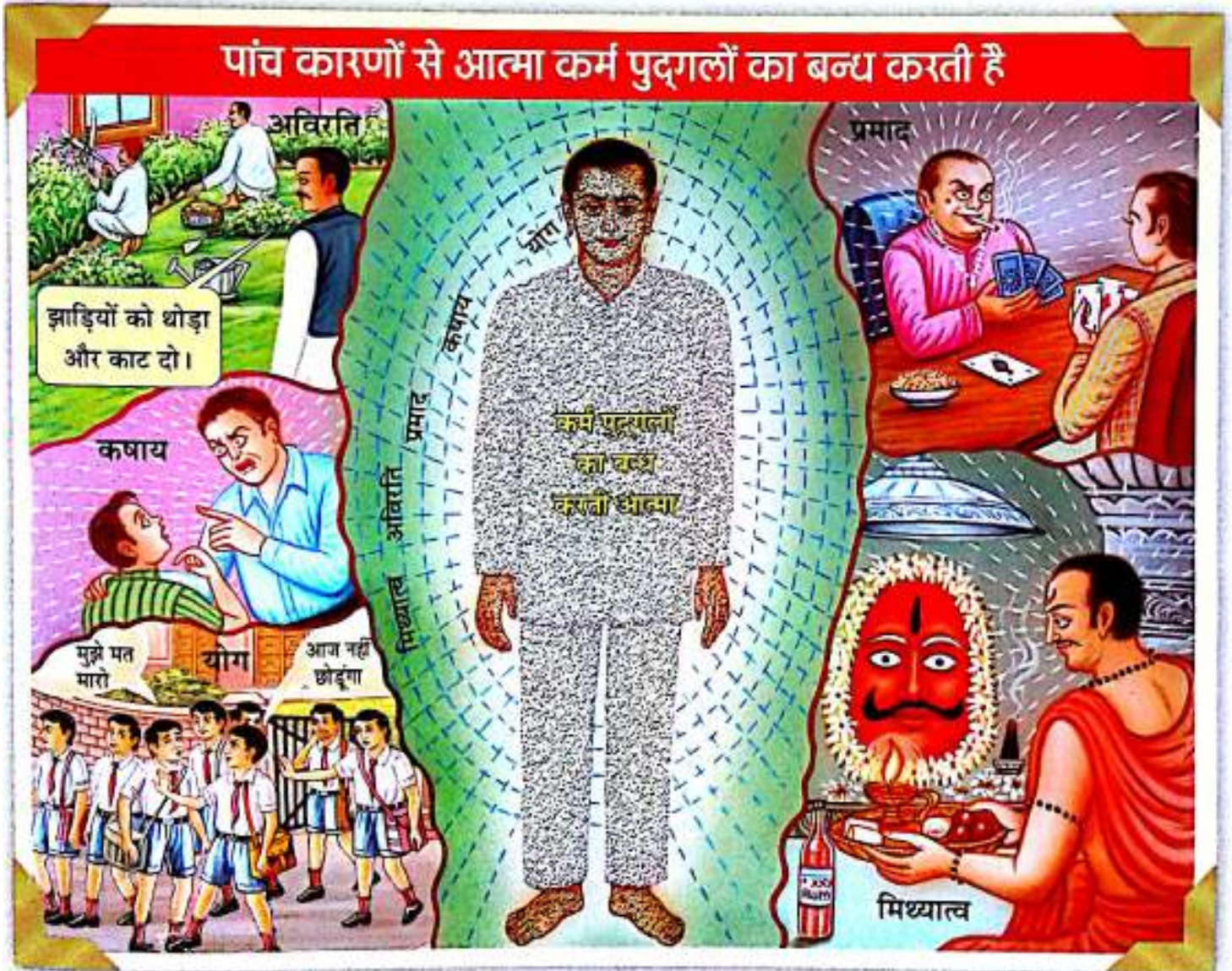
5. छोड़ने योग्य को नहीं छोड़ना प्रमाद है। 6. करने योग्य को नहीं करना प्रमाद है।

4. कषाय—यह कर्मबंध का चौथा कारण है।

1. जिससे संसार की प्राप्ति हो, वह कषाय है।
2. जिसके द्वारा संसार में भव-भ्रमण की वृद्धि हो, वह कषाय है।
3. संसार रूपी वृक्ष का जो सिंचन करे, वह कषाय है।
4. अग्नि रूपी भावों से आत्मा को जलाये, वह कषाय है।
5. क्रोध, मान, माया, लोभ—ये कषाय हैं।

मूल रूप से देखा जाये तो राग और द्वेष यही दो कषाय हैं। राग के भेद में माया और लोभ और द्वेष के भेद में क्रोध और मान आते हैं।

5. योग—यह कर्मबंध का पाँचवाँ कारण है।





1. मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशों में जो कम्पन्न होता है, उसे भाव योग कहते हैं।
2. मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को द्रव्य योग कहते हैं।
3. मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति को शुभ योग और अशुभ प्रवृत्ति को अशुभ योग कहते हैं।

त्रिविध योग की प्रवृत्ति ही क्रिया है, जो कर्मों के आने का द्वार—आस्रव है। क्रिया से कर्म अस्तित्व में आते हैं। हर क्रिया की कोई न कोई प्रतिक्रिया होती है और वह प्रतिक्रिया ही कर्म है। व्यक्ति की जैसी क्रिया होगी, वैसा ही कर्म होगा। यद्यपि शुभाशुभ योग (प्रवृत्ति) कर्मों के आगमन का द्वार है, इनसे कर्म आते अवश्य हैं, परन्तु केवल योगों की प्रवृत्ति से उनका आत्मप्रदेशों से बन्ध नहीं होता। बन्ध तभी होता है, जब योगों (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) के साथ कषाय या राग-द्वेषात्मक परिणाम मिल जायँ। इसलिए अधिक संक्षेप में कहना चाहें तो कषाय को ही कर्मबन्ध का मूल कारण कह सकते हैं।

**विशेष :** मिथ्यात्व से लेकर योग तक के पाँचों हेतुओं में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बन्धहेतु होंगे, वहाँ उसके बाद के भी सभी होंगे, ऐसा नियम है; जैसे कि मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि चार और अविरति के होने पर प्रमाद आदि बाकी के तीन अवश्य होंगे। परन्तु जब आगे का होगा, तब पूर्व बन्ध हेतु हो, और न भी हो; जैसे अविरति के होने पर पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व होगा, परन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं रहता। इसी तरह दूसरे में भी समझ लेना चाहिए।

#### 1.11. कर्मों से छुटकारा सम्भव है अर्थात् मुक्ति (सिद्धत्व) भी है

जब तक आस्रव द्वार खुला रहेगा, तब तक कर्म प्रवाह भी आता रहेगा। व्यक्ति पूर्ववद्ध कर्मों का फल भोगकर उसे आत्म-प्रदेशों से अलग करने के साथ ही राग-द्वेषवश नये कर्मों को बांध लेता है। इसलिए बन्ध से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम आस्रव का निरोध करना आवश्यक है। कर्मों के आगमन को रोकना संवर कहलाता है। मिथ्यात्वादि पाँच आस्रव हैं और सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुभयोग संवर हैं। संवर का अर्थ है संयम। संयम पूर्वक जीवन जीने से आस्रव को रोका जा सकता है। आत्मा शुद्ध और निर्मल बनता है। अतः संवर मोक्ष का कारण भी है। संवर के पाँच प्रकारों को संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं—

1. **सम्यक्त्व**—तत्त्वों के ऊपर यथार्थ श्रद्धान रखना सम्यक्त्व है अर्थात् जिस तत्व का जैसा स्वरूप है, उसके अनुरूप श्रद्धान रखना।
2. **विरति (व्रत)**—पदार्थों को भोगने की लालसा का त्याग—प्रत्याख्यान अथवा प्राणातिपात आदि पाप व्यापार से निवृत्त होने का प्रत्याख्यान।
3. **अप्रमाद**—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पाँच प्रमाद स्थानों का त्याग करना और अप्रमत्त भाव से रहना अप्रमाद है।
4. **अकषाय**—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषायों का त्याग कर क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच (निर्लेपता) का सेवन करना अकषाय है।
5. **अयोग**—मन, वचन, काया के व्यापारों का निरोध करना अयोग है। निश्चय दृष्टि से योग-निरोध ही संवर है। परन्तु व्यवहार दृष्टि से शुभ योग ही संवर माना जाता है।

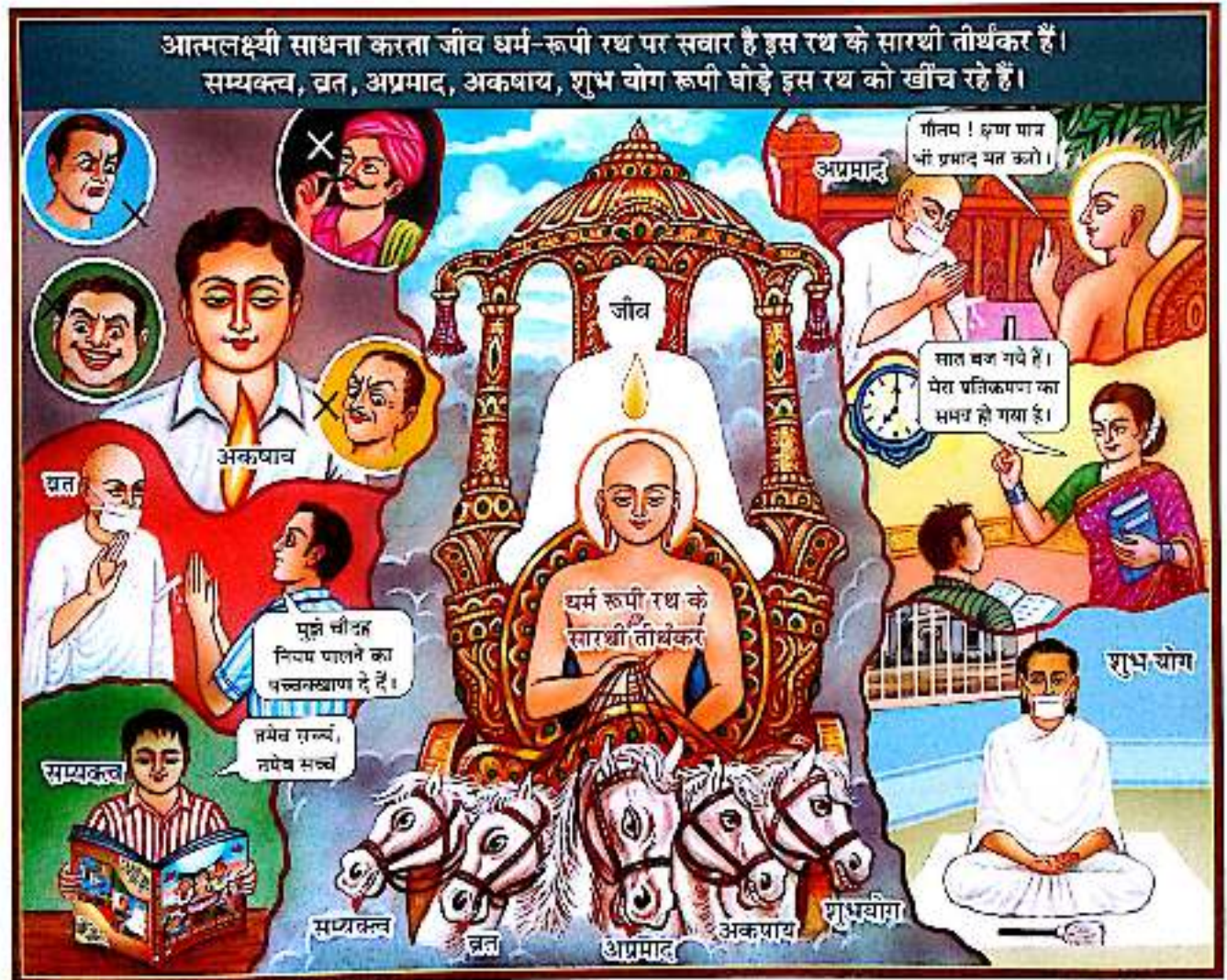


राग-द्वेषात्मक या कषायात्मक वृत्ति-प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया है। जब साधक पाँच आस्रवों का निरोध करके पंचसंवर रूप साधना में स्थित होता है तब वह नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता और कर्मबन्ध की परम्परा को रोक देता है।

संवर की साधना से कर्मप्रवाह रुक जाता है और फिर निर्जरा की साधना से पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते हैं। निर्जरा के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन तपश्चर्या को बताया गया है। जिस प्रकार सोने पर लगे हुए मैल को दूर करने के लिए उसे अग्नि में डालकर तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार तप की अग्नि के द्वारा कर्मफल को जलाकर नाश किया जाता है।

आगमों में तप के दो भेद किये गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। इन दोनों के 6-6 प्रकार हैं। इस प्रकार तप:साधना से करोड़ों भवों के संचित पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है, बशर्ते कि वह तप आत्मलक्ष्यी हो, आत्मशुद्धि के प्रयोजन से किया गया हो। आत्मलक्ष्यी तप तभी हो सकता है, जब तप के साथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो।

इस प्रकार जैन दर्शन सम्बन्धी मुक्ति की गान्यता विशुद्ध है, निर्दोष है और सर्वथा स्वतन्त्र है। अतः हमें मुक्ति के अस्तित्व का भी विश्वास रखना ही चाहिए।





## कर्मबंध के प्रकार

आत्मा से कर्म का बन्धन, भोग और मुक्ति के विषय में समझने के बाद यह प्रश्न आता है कि आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध कितने प्रकार से हो सकता है? कर्म वर्गणाओं और आत्मा का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है। जैसे ही कर्म वर्गणाओं का आत्मा के साथ बन्ध होता है, उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है, वे चार अंश ही बन्ध के चार प्रकार हैं।

उदाहरणार्थ; जब बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया हुआ घास वगैरह दूध रूप में परिणत होता है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है; वह स्वभाव अमुक समय तक उसी रूप में टिक सके ऐसी कालमर्यादा उसमें निर्मित होती है; इस मधुरता में तीव्रता, मन्दता आदि विशेषताएँ भी होती हैं; और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम (मात्रा) भी साथ ही बनता है; इसी तरह जीव द्वारा ग्रहण होकर उसके प्रदेशों में संश्लेष को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध हैं।

इन चारों में प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के कारण तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के कारण होते हैं। योग के कारण इसलिए हैं क्योंकि योग के कम या अधिक भाव पर ही प्रकृति और प्रदेशबन्ध का कम या ज्यादा भाव निर्भर करता है। इसी प्रकार कषाय के कारण इसलिए है कि कषायों की तीव्रता-मंदता पर ही बन्ध की स्थिति और अनुभाव की अल्पता-अधिकता निर्भर करती है। ये चारों प्रकार के कर्मबन्ध अलग-अलग नहीं, एक साथ आत्मा में विभिन्न रूपों में बँधते हैं।

1. **प्रकृतिबन्ध**—प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। कर्मपुद्गलों में जो ज्ञान को आवरण करने, दर्शन को रोकने, सुख-दुःख देने आदि का स्वभाव बनता है, वही स्वभावनिर्माण प्रकृतिबन्ध है। कुल आठ कर्म हैं, इनकी 148 उत्तर प्रकृतियाँ हैं। प्रत्येक का स्वभाव अलग अलग है। अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन होते ही यह निश्चित हो जाता है कि यह कर्मवर्गणा आत्मा को किस शक्ति को आवृत करेगी। जैसे ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान गुण को आच्छादित करना है। यह इस कर्म का प्रकृतिबन्ध है।

2. **स्थितिबन्ध**—बँधे हुए कर्मों का कितने समय तक आत्मा के साथ रहना स्थितिबन्ध है। प्रत्येक कर्म की आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा या स्थिति भिन्न-भिन्न है। बन्ध होने के समय यह निश्चित हो जाता है कि यह कर्मवर्गणा कितने समय तक आत्मा के साथ बन्धित रहेगी। विभिन्न कर्मों के बन्ध की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति भिन्न-भिन्न है।

3. **रसबन्ध या अनुभागबन्ध**—कर्मों का फल देने की स्थिति अनुभाग बन्ध या रसबन्ध है। कर्म पुद्गल कितनी तीव्रता अथवा मंदता से आत्मा पर असर डालेंगे अथवा किस रस का फल देंगे, यह निश्चय कर्म के बंधन होते समय ही हो जाता है जिसे अनुभागबंध या रसबंध कहते हैं।

4. **प्रदेशबन्ध**—कर्म परमाणु का समूह प्रदेश है। प्रदेशों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर प्रदेशबन्ध होता है। कर्म वर्गणा के जो पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं, उन्हें प्रदेशबंध कहते हैं। अर्थात् कितनी मात्रा में कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ बंध हुआ है। सबसे कम प्रदेश आयुष्य कर्म का होता है और सबसे अधिक प्रदेश वेदनीय कर्म का माना गया है।



हम इंजेक्शन के दृष्टांत द्वारा चारों प्रकार के बंध को समझ सकते हैं—

- (1) प्रदेशबन्ध—जिस प्रकार किसी को इंजेक्शन देने पर दवा के पुद्गल शरीर में जाते हैं उसी प्रकार कर्म के जत्थे (वर्गणा) आत्म-प्रदेश पर पहुँचते हैं तब प्रदेशबन्ध होता है।
- (2) प्रकृतिबन्ध—जिस प्रकार इंजेक्शन का अलग-अलग असर होता है, अलग-अलग स्वभाव होता है और वे शरीर पर अलग-अलग असर दिखाते हैं। किसी से बुखार उतरता है, किसी से शक्ति का अनुभव होता है, उसी प्रकार कोई कर्म पुद्गल आत्मा के ज्ञान गुण को ढँकता है, कोई दर्शन गुण को ढँकता है, कर्म पुद्गलों के इस असर को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।
- (3) रसबन्ध या अनुभागबन्ध—जैसे इंजेक्शन अलग-अलग पावर का होता है, कोई कम पावर का और कोई ज्यादा पावर का। उस इंजेक्शन का असर भी तीव्र और मंद होता है। उसी प्रकार कर्म का असर भी तीव्रता-मंदता वाला होता है। जिस रस से कर्म उदय में आने वाला होता है, उस रस के बन्ध को जो निश्चित करता है वह अनुभागबन्ध होता है।
- (4) स्थितिबन्ध—जैसे इंजेक्शन देने के थोड़े समय पश्चात् उसका असर शुरू हो जाता है, वह असर कुछ घण्टे या कुछ दिन तक रहता है। उसी प्रकार कर्म बन्ध होने के थोड़े समय पश्चात् उसका असर प्रारम्भ हो जाता है। वह असर कितने समय तक रहेगा, वह स्थितिबन्ध है।



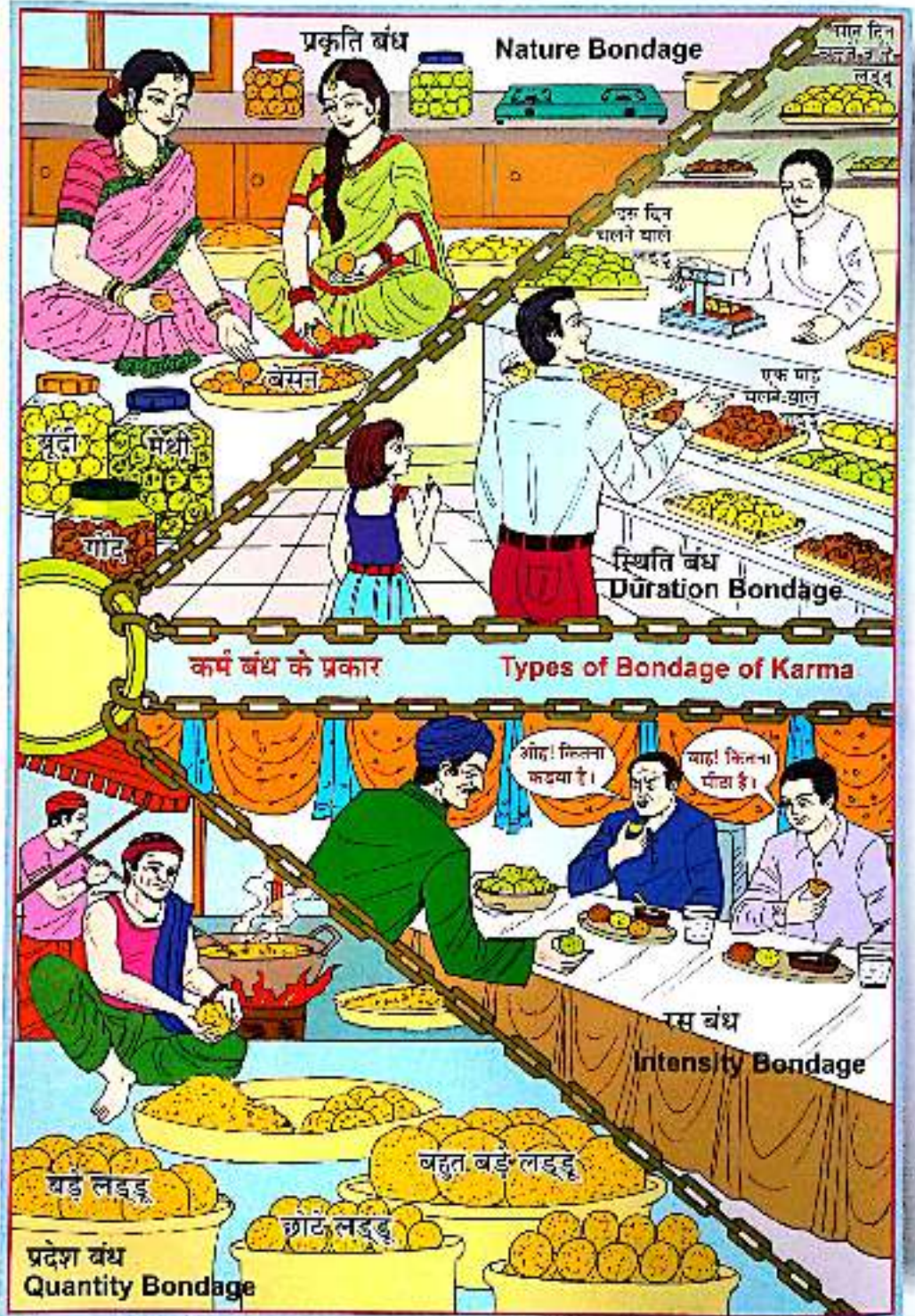


लड्डुओं के दृष्टांत द्वारा चार प्रकार के बन्ध को समझें—आगमों में कर्म बन्ध को लड्डू के दृष्टांत द्वारा समझाया गया है—

1. प्रदेशबन्ध—जैसे कोई लड्डू छोटा है, बड़ा है वैसे ही किसी कर्म में प्रदेश अधिक होते हैं, किसी में कम होते हैं।
2. प्रकृतिबन्ध—जिस प्रकार मेथी का लड्डू वात-पित्त-कफ का नाशक है तो अजवाइन का लड्डू पाचन में सहायक है। यह लड्डू की प्रकृति या स्वभाव है। इसी प्रकार विभिन्न कर्मों का स्वभाव आत्मा के विभिन्न गुणों को आच्छादित करना है, यह प्रकृतिबन्ध है।

3. रसबन्ध या अनुभागबन्ध — जिस प्रकार किसी लड्डू में मधुर रस होता है और किसी में कटु रस होता है या कोई लड्डू कम मीठा और कोई अधिक मीठा होता है। उसी प्रकार किसी कर्म का विपाक फल तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता है तो किसी का मंद, मंदतर और मंदतम होता है।

4. स्थितिबन्ध—जैसे कोई लड्डू एक निश्चित समय अर्थात् सप्ताह, पन्द्रह दिन, एक मासादि तक टिका रहता है, किन्तु बाद में खराब हो जाता है। उसी प्रकार निश्चित समय तक कर्म परमाणु आत्मा से चिपके रहते हैं, उसके बाद अलग हो जाते हैं, यह कर्मों का स्थितिबन्ध है।





## कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ

कर्म ग्रन्थ में कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। जीव जब कर्म का बंध करता है तो उस अवस्था से लेकर कर्म विपाक (भोग) तक जो-जो अवस्थाएँ घटित हो सकती हैं या जीव अपने पुरुषार्थ से कर्मों में जिन-जिन स्थितियों का निर्माण कर सकता है, उन्हें कर्म की अवस्थाएँ कहते हैं। कर्म की दस अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

1. **बंध**—कषाय युक्त परिणामों से या राग-द्वेषमय प्रवृत्तियों से आत्मा के असंख्य प्रदेशों में कम्पन-स्पंदन पैदा होता है। इस कम्पन के कारण जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश है, उसी क्षेत्र में या उसके निकटवर्ती क्षेत्र में रही हुई कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के असंख्य प्रदेशों के साथ क्षीर-नीरवत् या पानी में शक्कर मिल जाती है, उसी प्रकार मिलन या बंध हो जाता है। (बंध का विस्तृत विवरण पीछे के पृष्ठों पर किया गया है।)

2. **सत्ता**—कर्म बंध के पश्चात् जब तक कर्म पुद्गल आत्मा के साथ बंधे रहते हैं अर्थात् न तो वे उदय में आते हैं और न ही उनकी निर्जरा होती है, वे यूँ ही निचेष्ट पड़े रहते हैं। उस अवस्थिति को सत्ता कहते हैं। जैसे कि धन कमाकर तिजोरी में रख दिया हो। न उसका भोग किया और न ही किसी को दिया हो। इस अवस्था में जीव चाहे तो कर्मों का प्रमाण घटा-बढ़ा भी सकता है। परन्तु उदय में आने के पश्चात् कर्मों का किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जैसे शब्द मुँह से निकलने के पूर्व मन ही मन उसकी कौंसो भी रचना की जा सकती है, किन्तु मुँह से निकलने के पश्चात् कुछ नहीं हो सकता। सत्तारूप कर्म मिट्टी के पिण्ड जैसा होता है, जिसे कुम्भकार चाहे जैसी आकृति दे सकता है, लेकिन उसी मिट्टी के पिण्ड को पकाने के बाद उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। उसी तरह जीव कर्मों के उदय में आने के पश्चात् कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता।



3. **उदय**—बंधे हुए कर्मों का अबाधाकाल पूरा होने के पश्चात् उसका असर प्रारम्भ हो जाता है, वह फल देना शुरू कर देता है। कर्म की इस अवस्था को उदयकाल कहते हैं। पहले बन्ध, फिर सत्ता और फिर उदय, इन तीनों के क्रम में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। जैसे पहले बीज बोया जाता है, फिर कुछ समय तक जमीन में पड़े रहने के पश्चात् अंकुरित एवं पल्लवित होकर वृक्ष बनता है, तदनन्तर उसका फल प्राप्त होते हैं। उसी फल देने की अवस्था को उदय कहते हैं। जैसे किसी ने असातावेदनीय कर्म का बंध किया और उसका अबाधाकाल एक माह का है। एक माह पूरा होने के पश्चात् असातावेदनीय कर्म का उदय हुआ और वह व्यक्ति अचानक बीमार हो गया और वह असातावेदनीय कर्म का अनुभव करने लगा। इसे कर्म का वेदन भी कहते हैं। उदयावस्था तब तक चलती रहती है, जितने काल की उसकी स्थिति है। उदयकाल दो प्रकार का होता है—

(क) **प्रदेशोदय**—जिन कर्मों का वेदन केवल प्रदेशों में ही होता है, वह प्रदेशोदय है अथवा जिन कर्मों के प्रदेशों का ही वेदन होता है, रस का वेदन नहीं होता वह प्रदेशोदय है। इन कर्म के फल के रस को जीव वेदन या अनुभव नहीं करता और उसे पता चले बिना ही कर्म उदय होकर आत्मा से अलग हो जाता है। जैसे किसी मूर्च्छित व्यक्ति का ऑपरेशन कर दिया जाये तो उसे प्रत्यक्ष वेदना की अनुभूति नहीं होती।

(ख) **विपाकोदय**—जो कर्म परमाणु कर्मजन्य वेदना को स्पष्ट





अनुभूति करवाकर ही आत्मा से अलग होते हैं, वे विपाकोदय कहलाते हैं। विपाकोदय ही आत्म गुणों का घात करता है और नये कर्म उत्पन्न करता है। प्रदेशोदय से नये कर्म उत्पन्न नहीं होते और न ही आत्मगुणों का घात होता है। यह विपाकोदय छह प्रकार का होता है—

(i) द्रव्य विपाकोदय—जैसे मिठाई अधिक खाई तो शुगर की व्याधि हो गई, गंदा पानी पीने से पेचिश आदि पेट की बीमारी हो गई। द्रव्य के निमित्त से कर्म का उदय में आना द्रव्य विपाक उदय है। यदि यह हेतु नहीं मिलते हैं तो कर्म का विपाक उदय में नहीं आता है।

(ii) क्षेत्र विपाकोदय—क्षेत्र के प्रभाव से कर्म का उदय होना क्षेत्र विपाकोदय होता है। जैसे धूप में जाने पर गर्मी का अनुभव होता है। ठण्डे स्थान पर जाने से जुकाम आदि की बीमारी होती है।

(iii) काल विपाकोदय—काल के प्रभाव से जो कर्मों का उदय होता है, उसे काल विपाकोदय कहते हैं। जैसे मौसम बदलने पर बीमारी आ जाना, सर्दी में खाँसी, दमा आदि की तकलीफ, गर्मी में लू लगना आदि।

(iv) भाव विपाकोदय—वर्तमान में कोई स्पष्ट ब्राह्म निमित्त न हो, किन्तु पुरानी स्मृतियाँ अथवा भावी आशंका से क्रोध पैदा होना। जैसे किसी व्यक्ति को चिन्ता से हार्ट अटैक हो जाता है, सोचते-सोचते ही क्रोधावेश होकर रक्तचाप बढ़ जाता है। यह भाव विपाकोदय है।

(v) भव विपाकोदय—जैसे दर्शनाकर्णीय कर्म सभी संसारी जीवों के होता है तथापि मनुष्य और तिर्यच को निद्रा आती है, देव और नारकी को नहीं, इसमें भव कारण है।

(vi) हेतु विपाकोदय—स्पष्ट ब्राह्म निमित्त के मिलने पर तत्सम्बन्धी कर्म का उदय होना, जैसे पत्थर की टोकर लगी और गिर जाने पर हड्डी का फ्रैक्चर हो गया। यह असातावेदनीय का हेतु विपाकोदय है।





4. **उदीरणा**—कर्मों के उदय में आने से पूर्व ही किसी क्रिया द्वारा, प्रयत्न द्वारा उनकी स्थिति को कम करके उन्हें भोगकर निर्जरित कर देना उदीरणा कहलाता है। जैसे आम जल्दी पकाने हेतु आम के पेड़ में लगे हुए कच्चे आमों को तोड़कर उन्हें भूसे व रसायनिक पदार्थ आदि में दबा देते हैं, जिससे वे शीघ्र ही पक जाते हैं। उसी प्रकार उपसर्ग-विजय, तप-प्रायश्चित, काया-क्लेश, केश लुंचन आदि के द्वारा उन पूर्वबद्ध कर्मों को उदय में आने से पूर्व ही उदीरणा द्वारा उदय में लाकर भोग लिया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को दस हजार रुपये वेतन मिलता है, उसने आठ दिन पहले ही पाँच हजार रुपये ले लिये। पहली तारोख को पाँच हजार रुपये और मिल गये। इसी तरह निश्चित समय से पहले ही कर्म का फल भोग लेना उदीरणा कहलाता है। जैसे गजसुकुमाल मुनि ने दीक्षा लेते ही श्मशान में जाकर ध्यान करके और सोमिल द्वारा मस्तक पर पाल बाँधकर जलते अंगारे रखे जाने पर उसे अत्यन्त समभाव पूर्वक सहकर एक ही अहोरात्र (दिन-रात) में पूर्वजन्म में बाँधे कर्मों की उदीरणा करके भोग लिया।



ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की उदीरणा हो सकती है। उदीरणा प्रशस्त भो होती है और अप्रशस्त भो होती है। जिस उदीरणा के समय सम्यक् निर्जरा होती है उसे प्रशस्त उदीरणा कहते हैं और जिस उदीरणा से कर्मों का बन्ध होता है उसे अप्रशस्त उदीरणा कहते हैं। वेदना आदि में समभाव रखने से कर्मों की प्रशस्त उदीरणा होती है। जैसे कोई साधक तपस्या करके या आतापना लेकर कर्मों की उदीरणा करके उन्हें क्षीण करने का उपक्रम करता है किन्तु साथ ही तपस्या या साधना का मद, शाप प्रदान या ईर्ष्या-क्रोध आदि भाव हों तो कर्म क्षय होने के बजाय कर्मबन्ध अधिक बढ़ जाता है। इसे अप्रशस्त उदीरणा कहते हैं।

5. **उद्वर्तन या उत्कर्षण**—एक बार कर्म का बंध होने के पश्चात् उस कर्म की स्थिति और अनुभाव (रस) को बढ़ा लेना अर्थात् उस कर्म को और अधिक उग्र या प्रखर बना लेना उद्वर्तन कहलाता है।

जैसे कोई व्यक्ति खेत में उगे हुए किसी पौधे को पहले पर्याप्त खाद-पानी नहीं देता था, किन्तु बाद में उसने उस पौधे को अनुकूल खाद व प्रचुर पानी दिया, जिससे पौधे की आयु एवं फलदान शक्ति बढ़ गई। उसी प्रकार जिन भावों से कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि होती है, उन भावों को उद्वर्तनकरण कहते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने किसी जीव को बुरी तरह पीटा और एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति के असातावेदनीय कर्म का बंध किया और फिर यह मन में विचार करने लगा कि अच्छा हुआ उसे मारा, वह मारने लायक ही था आदि अशुभ विचार पाप पूर्ण भावों से करने पर उसका कर्मबंध एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से बढ़कर दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति का हो गया और उसकी तीव्रता भी बढ़ गई।



6. **अपवर्तन**—एक बार कर्म का बंध होने के पश्चात् उस कर्म की स्थिति और अनुभाव (रस) को कम करना, उसे अपवर्तन कहते हैं। जैसे पौधे को खाद, पानी न देने से उसके फल देने की शक्ति घट जाती है अथवा जिस प्रकार ज्वर का अत्यधिक ताप बर्फ रखने से घट जाता है, उसी प्रकार आत्मा के जिन भावों से कर्म की स्थिति और अनुभाव (रस) में कमी होती है, उन भावों को अपवर्तनकरण कहते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति का असातावेदनीय कर्म का बंध किया फिर अपने किए हुए पाप कर्मों का पछतावा किया 'मुझे यह कृत्य नहीं करना चाहिए था, मैंने ऐसा काम क्यों किया ? मैं



ऐसा काम नहीं करता तो अच्छा होता।' इन भावों के कारण एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले कर्म मात्र एक सागरोपम की स्थिति वाला ही रह गया और उसकी तीव्रता भी घट गई तो कर्म का अपवर्तन हो गया।

हिंसा आदि अकारुणिक पाप कर्म के सेवन करने के बाद पछतावा करने से बंधे हुए पाप कर्म की स्थिति और रस घट जाता है। पाप कर्म का अपवर्तन हो जाता है। अतः पाप कर्म का त्याग न हो सके तो भी उस कार्य को करने के बाद पछतावा अवश्य करना चाहिए। पुण्य कर्म करने के पश्चात् अशुभ भाव करने से उसकी स्थिति और रस घट जाते हैं। यह पुण्य कर्म का अपवर्तन है। जैसे भिखारी को खाना खिलाकर यह सोचना कि 'इसे खाना नहीं देता तो अच्छा होता', दान देने के पश्चात् ऐसा सोचना कि 'दान न दिया होता तो अच्छा होता।'



7. **संक्रमण**—विशेष प्रयत्न करके एक ही कर्म की उत्तर प्रकृतियों को अपनी ही सजातीय कर्म प्रकृति के रूप में बदल देना संक्रमण कहलाता है। अर्थात् आत्मा के जिन भावों से कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ परस्पर बदल जायें, उन भावों को संक्रमणकरण कहते हैं। जैसे आधुनिक चनस्पति-विज्ञान विशेषज्ञ कलम लगाकर खट्टे फल देने वाले पौधे को मोठा फल देने वाले पौधे के रूप में तथा निम्न जाति के बीजों को उन्नत जाति के बीजों में परिवर्तित कर देते हैं। चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में विकृत हृदय के स्थान पर स्वस्थ हृदय का, विकृत नेत्र के स्थान पर लेंस का प्रत्यारोपण कर देने से व्यक्ति रोग की पीड़ा से बच जाता है। उसी प्रकार असातावेदनीय को सातावेदनीय में, अशुभ नामकर्म को शुभ नामकर्म में एवं नीच गोत्र को उच्च गोत्र में—ऐसे सभी सजातीय प्रकृतियों को संक्रमित किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर नमि राजषिं और अनाथी मुनि ने असातावेदनीय कर्म के उदय से हुई असाध्य बीमारी को शुभ अध्यवसायों के द्वारा सातावेदनीय में संक्रमित कर रोग से मुक्ति प्राप्त कर ली।



विशेष ध्यान रखने योग्य है कि संक्रमण एक कर्म की मूल प्रकृति का दूसरे कर्म की मूल प्रकृति में नहीं होता है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियों में परिणमित नहीं होतीं। परन्तु वे अपने सजातीय भेदों में अर्थात् उत्तर प्रकृतियों में बदल सकते हैं। किन्तु मोहनीय और आयुष्य कर्म इसके अपवाद हैं। मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रमण नहीं होता है। इसी प्रकार आयुष्य कर्म की चारों प्रकृतियाँ—नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देव में जिसकी आयु बाँधी है, उसी गति में जाना पड़ता है, इसमें अदला-बदली नहीं हो सकती।

8. **उपशम**—उदय प्राप्त कर्म पुद्गलों को कुछ समय के लिए किसी प्रयत्न विशेष स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा आदि द्वारा शांत कर देना या फल प्राप्ति के अयोग्य कर देना उपशम कहलाता है। इस अवस्था में कर्म का न





उदय होता है न उदीरणा। न यह निधत्त अवस्था होती है न निकाचित। जैसे अंगारे राख के नीचे दबकर शांत हो जाते हैं, परन्तु उनकी आग समाप्त नहीं होती। जब राख हट जाती है तो वह पुनः भड़क उठते हैं अथवा जैसे पानी में फिटकरी घुमाने पर उसकी मिट्टी आदि तलों में नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ दिखाई देने लगता है परन्तु उसकी मिट्टी तो तली में ही रहती है, हटती नहीं है। इस प्रकार कर्म न तो क्षय हुआ है और न ही उदय में आया है, उस दशा को उपशम कहते हैं। आत्मा के जिन भावों से कर्मों का उपशम होता है, उसे उपशमनकरण कहते हैं। आठ कर्मों में मात्र मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है।

**9. निधत्त**—कर्म को प्रतिसमय उदय में आने के लिए विशिष्ट रीति से स्थापित करना निधत्त कहलाता है। निधत्त कर्मों की उदीरणा और संक्रमण नहीं हो सकता, केवल उद्वर्तन और अपवर्तन ही हो सकता है। निधत्त का अर्थ कर्मों की निषेक रचना भी है। (एक समय में निर्जरित होने वाले परमाणुओं के समूह को निषेक कहते हैं।) जैसे सुईयों जंग लगने पर एक-दूसरे से चिपक जाती हैं। यह कर्मों की क्षल्प निकाचित अवस्था है। जिसमें ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गल बहुत ही मजबूती से बँधे हुए रहते हैं। जैसे चिकनी मिट्टी का ढेला दीवार पर फेंकने पर मजबूती से चिपक जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेष के भाव तीव्र होने से कर्मों का बंधन गाढ़ हो जाता है। निधत्त अवस्था में कर्म इसी प्रकार की प्रगाढ़ स्थिति में आ जाते हैं।



**10. निकाचित**—अति गाढ़ बंध से बँधे हुए कर्म निकाचित कर्म कहलाते हैं। पाप-प्रवृत्तियाँ कर प्रसन्न होने से, मन में सुखानुभूति होने से वा अहंकारग्रस्त होकर पाप-कार्यों की बार-बार अनुमोदना करने से निकाचित कर्मों का बन्ध होता है। जैसे ईंट को सीमेंट से दीवार पर लगा देते हैं, फिर सीमेंट के सूखने के पश्चात् वह दीवार से अलग नहीं हो सकती। उसी प्रकार आत्म प्रदेश से अति गाढ़ बँधे हुए कर्म का छूटना दुष्कर होता है और उन्हें भोगना ही पड़ता है। ऐसे बंध को निकाचित बंध कहते हैं। यह बद्ध कर्म की वह अवस्था है जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण और उदीरणा आदि किसी भी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति सुईयों को एकत्र कर उन्हें तपाकर हथौड़े से कूट-कूटकर उन्हें पिंड रूप बना दे तो फिर सुईयों को अलग कर पाना सम्भव नहीं है। जैसे किसी डायबिटीज, कैंसर, टी.बी. आदि के रोगी द्वारा बार-बार कुपथ्य करने पर या मिथ्या आहार-विहार करने के कारण रोग असाध्य हो जाता है। रोग अन्तिम चरण में पहुँच जाने के बाद उस रोग का कष्ट भोगे बिना प्राणान्त तक कोई छुटकारा नहीं होता। उसी तरह निकाचित कर्म भोगे बिना छुटकारा सम्भव नहीं है। आत्मा के जिन भावों से कर्म आत्मा के साथ निकाचित हो जाते हैं, उन भावों को निकाचितकरण कहते हैं।



देखा जाए तो कर्मों की यह दस अवस्थाएँ जीव के पुरुषार्थ की प्रतीक हैं। सम्यक् आचरण व सम्यक् ज्ञान द्वारा अशुभ कर्मों को शुभ में, शुभ को शुद्ध (कर्म रहित अवस्था) में रूपांतरित किया जा सकता है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा इन दस अवस्थाओं को पार कर कर्मों का क्षय करते हुए मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

□□



## कर्मबंध की श्रेणियाँ (माप)

आत्मा के साथ कर्मों का बंधन होते ही उसके चार प्रकार बन जाते हैं। जिसके बारे में पीछे बताया गया है। अब यहाँ पर आत्मा के साथ कर्मों के बंधन की चार श्रेणियाँ बताई गई हैं। जिस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिकों ने ताप अथवा ज्वर नापने का यंत्र आविष्कृत किया है, हवा को मापने के लिए बेरोमीटर का आविष्कार किया है, वर्षा और ठंड को नापने के यंत्र भी आविष्कृत हो चुके हैं। इन यंत्रों से ताप, गर्मी, ठंड, हवा, वर्षा आदि की डिग्री (श्रेणी) का पता लग जाता है। अर्थात् वर्षा हल्की हुई है या ज्यादा, हवा तेज चल रही है या मंद वैसे ही कर्मविज्ञान-पर्मज्ञों ने कर्मबन्ध को नापने और उसकी मात्रा अथवा तीव्रता-मन्दता का पता लगाने के लिए चार मुख्य मापक बताए हैं। ये चारों मापक कर्मबन्ध की डिग्री बता देते हैं। अर्थात् यह बता देते हैं कि कर्मबंध ढीला है, जरा मजबूत है या उससे भी अधिक मजबूत है या अत्यंत सुदृढ़ जो कभी न खुल सके, ऐसा है। इन चारों मापकों को कर्मविज्ञान की भाषा में 1. स्पृष्ट, 2. बद्ध, 3. निधत्त, और 4. निकाचित कहा जाता है। ये चारों मापक कर्मबन्ध की चार मुख्य श्रेणियाँ हैं।

चार वस्त्रों के उदाहरण द्वारा बंध की इन चारों श्रेणियों को हम आसानी से समझ सकते हैं—

1. **स्पृष्ट**—एक जगह पिसी हुई हल्दी का ढेर पड़ा है, उस पर किसी ने कपड़ा रख दिया। हल्दी के रजकण उस वस्त्र पर लग जाते हैं, परन्तु उसे जरा-सा झटकने से उसके रजकण झड़ जाते हैं। इसी प्रकार स्पृष्ट नामक कर्मबन्ध भी ऐसा ही है कि जरा-सा पश्चात्तापपूर्वक मिच्छामि दुकडं कहने से वे कर्मरज झड़ जाते हैं, चिपके नहीं रहते।

2. **बद्ध**—एक वस्त्र ऐसा है, जिस पर तेल लगा हुआ है, वह चिकना है, यदि उसे किसी ने पिसी हुई हल्दी के ढेर पर रख दिया तो उस पर अधिक मजबूती से हल्दी के कण चिपक जायेंगे, तब उसे पानी और साबुन लगा कर धोने से वह हल्दी का रंग उतरेगा। इसी प्रकार का बद्ध नामक कर्मबन्ध है, जो आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रतिक्रमण, क्षमापना एवं भावना के द्वारा छूटता है।

3. **निधत्त**—एक वस्त्र ऐसा है, जिस पर अलकतरा चिपक गया है। अलकतरे का गाढ़ा लेप साफ करने के लिए साबुन और पानी से काम नहीं चलेगा, उसके लिए उक्त कपड़े को मिट्टी के तेल से धोना पड़ता है, तब जाकर वह अलकतरा निकलता है। इसी प्रकार निधत्त नामक कर्मबन्ध ऐसा है, जो पूर्वोक्त क्रियाओं से दूर नहीं होता, उसके लिए तपस्या, प्रायश्चित्त आदि कठोर अनुष्ठान करना पड़ता है।

4. **निकाचित**—चौथे प्रकार का वस्त्र तेल, अलकतरा, धूल के कण आदि से इतना मलिन हो गया है कि साबुन, मिट्टी के तेल आदि लगाने पर भी उसका मैल नहीं छूटता। वह कपड़ा फट जाएगा लेकिन मैल नहीं छूटेगा। इसी प्रकार का कर्मबन्ध है—निकाचित, जो तपश्चर्या, प्रायश्चित्त आदि से भी नहीं छूटता, उसका पूर्ण फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

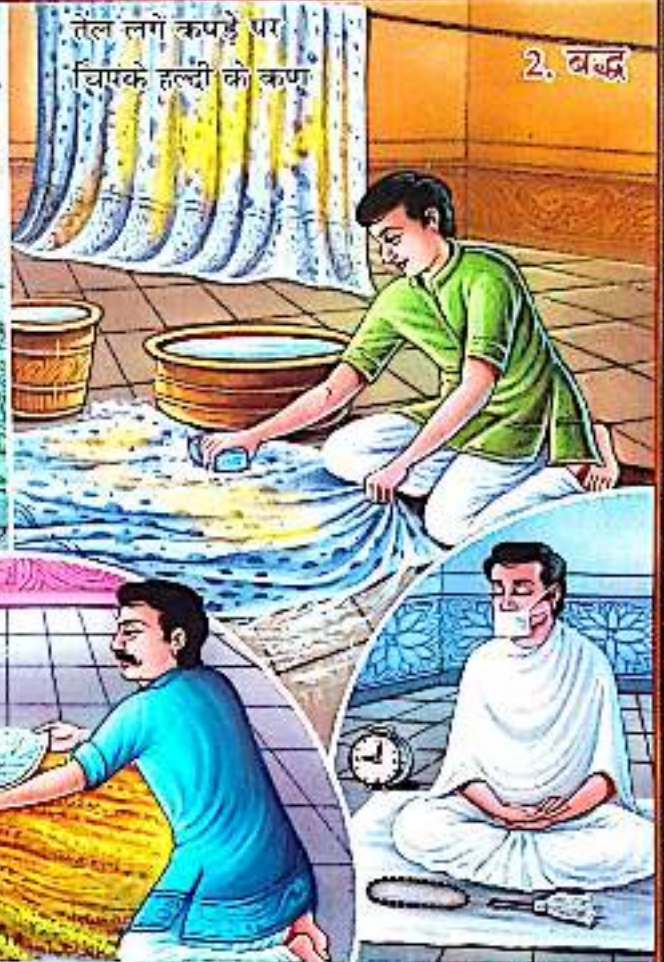
आत्मा के राग-द्वेष आदि परिणामों के कम-ज्यादा होने से कर्मबंध भी कम-ज्यादा होता है। यदि आत्मा में कषाय रूपी चिकनाई अधिक होगी तो कर्म पुद्गल भी उतनी ही दृढ़ता से आत्मा से चिपकेगा। इसके विपरीत कषाय रूपी चिकनाई जितनी कम होगी, उतना ही कमजोर कर्म का बंध होगा।



1. स्पृष्ट

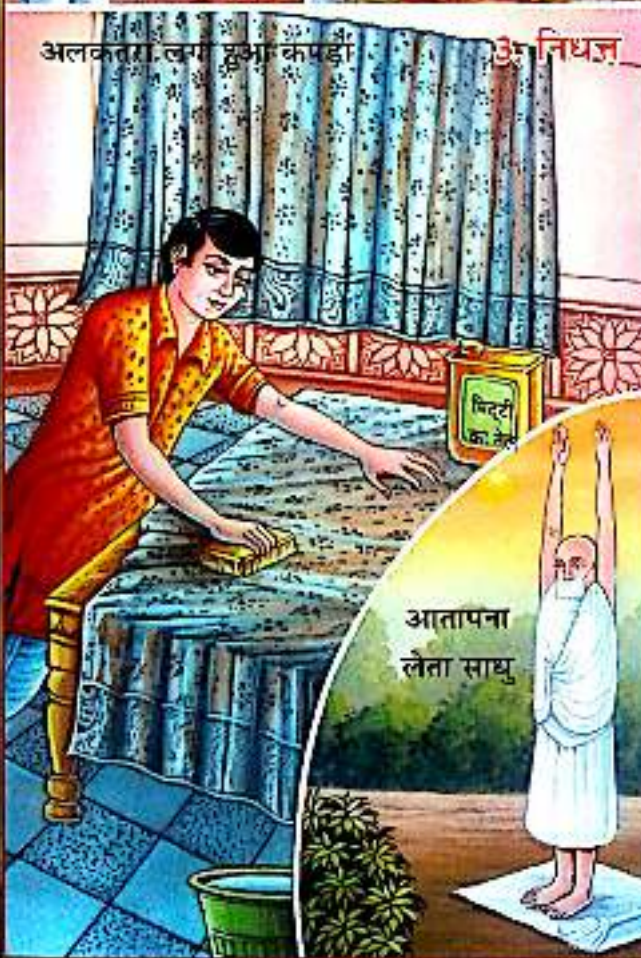


2. बद्ध

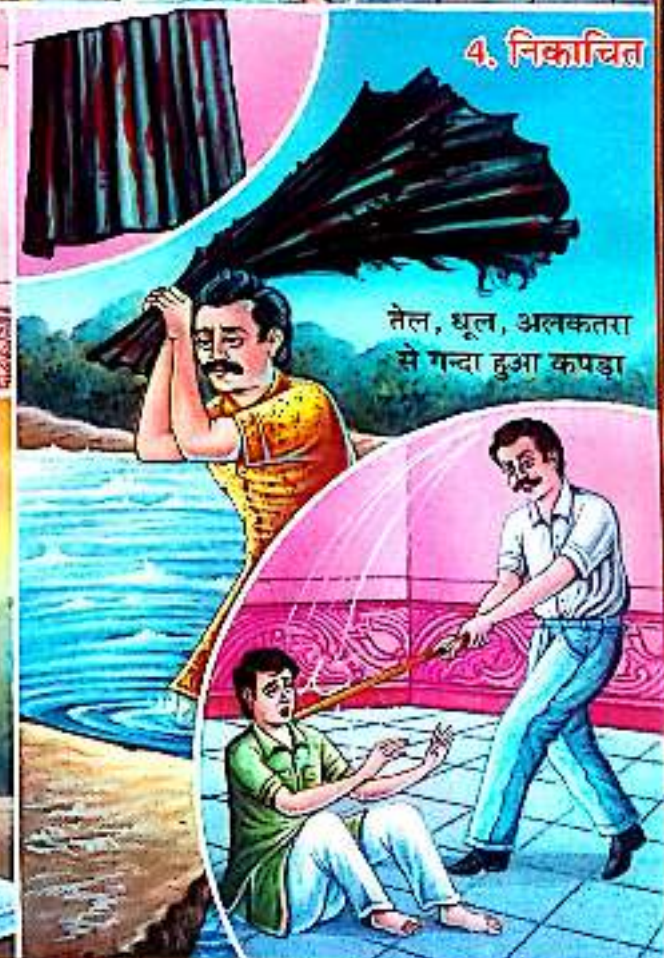


अलकतरा लगे हुआ कपड़ा

3. निधज



4. निकाचित





## आठ कर्मों के क्रम का कारण

आप लोगों के मन में एक जिज्ञासा अवश्य उठती होगी कि कर्म की इन आठ मूल प्रकृतियों का यह क्रम क्यों है? इस क्रम के पीछे क्या आधार है? इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार जनवरी के बाद फरवरी, फरवरी के बाद मार्च, मार्च के बाद अप्रैल इत्यादि प्रकार से बारह महीनों का यह क्रम विश्व के सभी खगोलवेत्ताओं द्वारा मान्य है, क्योंकि उसके पीछे एक आधारभूत हेतु (Logic) है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय के बाद दर्शनावरणीय, दर्शनावरणीय के वेदनीय, वेदनीय के पश्चात् मोहनीय, मोहनीय के बाद क्रमशः आयुष्य, नाम, गौत्र और अन्तराय—यों इन आठ कर्मों का प्रकृतियों के अनुसार क्रम रखने के पीछे भी एक आधारभूत हेतु है।

1. सम्पूर्ण शास्त्रों को विचारणा ज्ञान द्वारा ही की जाती है और सभी लब्धियाँ भी ज्ञान द्वारा ही प्रकट होती हैं और मोक्ष प्राप्ति के समय भी ज्ञान का उपयोग होता है। इसलिए ज्ञान गुण को आत्मा का प्रधान गुण माना गया है। अतः इसको ढँकने वाले ज्ञानावरणीय कर्म को प्रथम गिना जाता है।
2. ज्ञान उपयोग पूर्ण होने के पश्चात् दर्शन का उपयोग होता है। इसलिए दर्शनावरणीय कर्म को दूसरा माना गया है।
3. उपरोक्त दोनों कर्म अपना फल दिखाने के लिए सांसारिक सुख-दुःख को वेदन कराने के हेतु बनते हैं। इसलिए दर्शनावरणीय कर्म के बाद वेदनीय कर्म को तीसरा माना गया है।
4. सुख-दुःख राग-द्वेष को जन्म देते हैं। राग-द्वेष मोहनीय कर्म के अंग हैं। इसलिए मोहनीय कर्म को चौथा माना गया है।
5. मोहनीय कर्म से मूढ़ बनकर मोह में फँसा हुआ आत्मा अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ या हिंसा आदि का आचरण करता है और ऊँची-नीची गति में आयुष्य का बन्ध करता है। इसलिए आयुष्य कर्म को पाँचवाँ माना गया है।
6. आयुष्य कर्म गति, जाति, शरीर आदि के बिना भोगा नहीं जा सकता। इसलिए आयुष्य कर्म के बाद नाम कर्म को छठा माना गया है।
7. नामकर्म का उदय होने के बाद उच्च-नीच गौत्र की प्राप्ति अवश्य होती है। इसलिए नामकर्म के बाद गौत्र कर्म को सातवाँ माना गया है।
8. उच्च-नीच गौत्र के उदय होने पर क्रमशः दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य आदि शक्तियाँ कम या ज्यादा रूप से बाधित होती हैं। इसलिए गौत्र कर्म के बाद अन्तराय कर्म को आठवाँ माना गया है।

## कर्म पुद्गल किस रूप से कितनी मात्रा में आत्मा के ऊपर लगते हैं ?

जीव समय-समय पर सात कर्म बाँधता है। जब आयुष्य कर्म बाँधता है तब आठ कर्म बाँधता है। क्योंकि आयुष्य कर्म तो सम्पूर्ण जीवन में एक ही बार बाँधता है। विविध कारणों से कर्म के पुद्गल जब आत्मा के साथ बाँधते हैं तो किस कर्म को कितना भाग मिलता है? इसका वर्णन नीचे किया गया है (कर्म ग्रन्थ भाग-1 से)।

- (1) सबसे थोड़ा भाग (2%) आयुष्य कर्म को मिलता है। क्योंकि इसकी स्थिति सबसे छोटी होती है।
- (2) इससे ज्यादा भाग (3%, 3%) नाम और गौत्र कर्म को मिलता है। दोनों को एक समान। इनकी स्थिति अन्य शेष कर्मों की अपेक्षा कम होती है।



(3) इसके पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म को परस्पर एक समान भाग (4%, 4%, 4%) मिलता है। क्योंकि इनकी स्थिति भी कम होती है।

(4) मोहनीय कर्म को इनसे ज्यादा भाग (20%) मिलता है। क्योंकि इसकी स्थिति विशेष होती है।

(5) वेदनीय कर्म को सबसे ज्यादा भाग (60%) मिलता है, इसकी स्थिति थोड़ी होती है परन्तु इसके पुद्गल बहुत ज्यादा होते हैं, तभी यह अपना फल अनुभव करा सकता है।

इस प्रकार कर्मबन्ध की पद्धति या विधि को जान लेने पर मनुष्य को अपनी जीवनचर्या को कषाय और योगों से दूर रखकर कर्मबन्ध से मुक्त होने का सतत प्रयास करते रहना चाहिए।



## कर्मों की प्रकृतियाँ (प्रकार)

आत्मा प्रति समय अनन्तानन्त कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन कर्म-पुद्गलों में अपने अध्यक्षताय विशेष से प्रकृतिबन्ध होते समय विशेष-विशेष प्रकार की शक्ति अथवा स्वभाव उत्पन्न हो जाता है। इस स्वभाव को अपेक्षा ही कर्म-प्रकृतियों की रचना होती है। वे स्वभाव अदृश्य हैं, फिर भी उनका परिगणन सिर्फ उनके कार्य अर्थात् प्रभाव को देखकर कर सकते हैं। एक या अनेक जीवों पर होने वाले कर्म के असंख्य प्रभाव अनुभव में आते हैं। इन प्रभावों के उत्पादक स्वभाव भी वास्तव में असंख्यात ही हैं। ऐसा होने पर भी थोड़े में वर्गीकरण करके उन सभी को आठ प्रकारों में बाँट दिया गया है। यही आठ प्रकार मूल प्रकृतिबन्ध कहलाते हैं। प्रकृतियों के दो भेद हैं—

(1) **मूलप्रकृति**—ये कर्मों के मुख्य भेद हैं।

(2) **उत्तरप्रकृति**—ये मूलप्रकृतियों के अवान्तर भेद हैं।

मूलप्रकृतियों के 8 भेद हैं और उत्तरप्रकृतियों के 148 भेद होते हैं। किन्तु किन्हीं-किन्हीं अर्थात् विभिन्न अपेक्षाओं से इनके 97 और 158 भेद भी हैं। उत्तरप्रकृतियों की इस संख्या का अन्तर नामकर्म की प्रकृतियों की विभिन्न अपेक्षाओं से गणना किया जाना है। अन्यथा कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ 148 ही मानी जाती हैं और इन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण कर्म सिद्धान्त का विवेचन किया जाता है।

## कर्म के आठ मुख्य प्रकार (मूलप्रकृतियाँ)

जो कर्म आत्मा के मूल गुणों का घात करते हैं वे घाति कर्म और जो कर्म आत्मा के मूल कर्मों का घात नहीं करते वे अघाति कर्म कहलाते हैं। कर्मों की मूलप्रकृतियाँ आठ हैं—

(1) **ज्ञानावरणीय कर्म**—यह कर्म-पुद्गल आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने के स्वभाव वाले होते हैं। यह घाति कर्म है।



(2) **दर्शनावरणीय कर्म**—जो कर्म-पुद्गल आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करने के स्वभाव वाले होते हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म कहलाते हैं। यह घाति कर्म है।

(3) **वेदनीय कर्म**—यह कर्म-पुद्गल जीव को सुख और दुःख का वेदन करवाने वाले स्वभाव के होते हैं। इसके द्वारा जीव को सांसारिक सुख-दुःख की अनुभूति होती है। यह अघाति कर्म है।

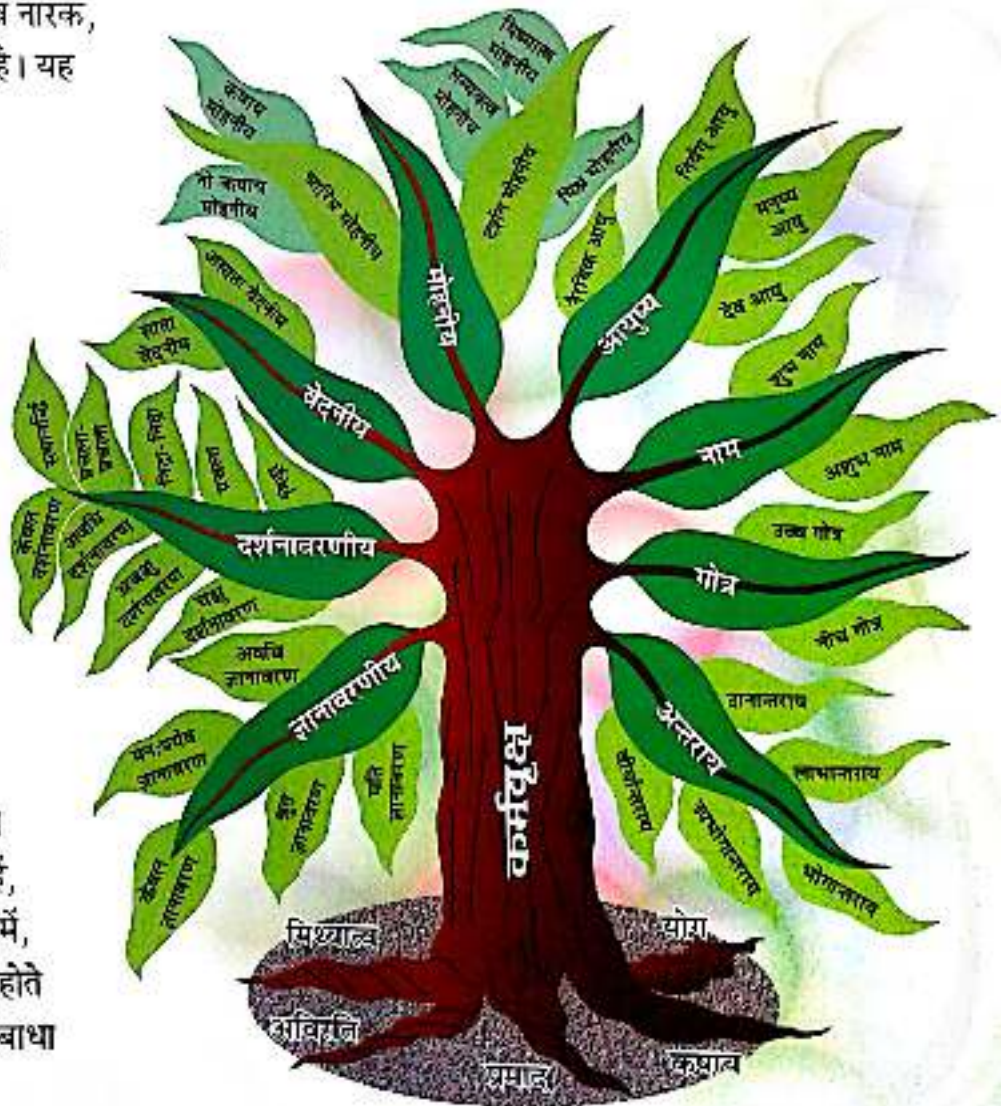
(4) **मोहनीय कर्म**—जिससे आत्मा मोह को प्राप्त हो, वह मोहनीय कर्म है। यह कर्म-पुद्गल जीव के सम्यक्त्व (सम्यग्बोध) तथा चारित्र गुणों का घात करते हैं तथा जीव को स्व-पर-विवेक एवं स्वरूप-रमण में बाधा पहुँचाते हैं। यह घाति कर्म है।

(5) **आयुष्य कर्म**—जो कर्म-पुद्गल जीव को निश्चित समय तक एक भव में रोके रखने के स्वभाव वाले होते हैं, आयुष्य कर्म कहलाते हैं। इस कर्म के अस्तित्व से जीव जीवित रहता है और इसके समाप्त होते ही मर जाता है। सही शब्दों में, एक पर्याय से दूसरी पर्याप्त में गमन कर जाता है। यह अघाति कर्म है।

(6) **नाम कर्म**—जो कर्म-पुद्गल जीव को विभिन्न प्रकार की जाति, गति, शरीर, यश-अपयश, बल आदि का संयोग कराने वाले स्वभाव के होते हैं, वे नाम कर्म कहलाते हैं। इसके उदय से जीव नारक, तिर्यच, देव, मनुष्य आदि कहलाता है। यह अघाति कर्म है।

(7) **गोत्र कर्म**—जो कर्म-पुद्गल जीव को जाति, कुल, रूप आदि संयोग प्रदान कराने के स्वभाव वाले होते हैं, गोत्र कर्म कहलाते हैं। इन्हीं कर्मों के कारण जीव उच्च अथवा नीच कुल में जन्म लेता है, अथवा जीव में पूज्यता या अपूज्यता के भाव उत्पन्न होते हैं। यह अघाति कर्म है।

(8) **अन्तराय कर्म**—जो कर्म-पुद्गल जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य शक्तियों का घात करने वाले स्वभाव के होते हैं, इनके कारण जीव को दान लेने-देने में, लाभ प्राप्त करने में, भोग सामग्री होते हुए भी भोग करने में, आदि बातों में बाधा उत्पन्न होती है। यह घाति कर्म है।





## चलो कर्म को उपमाओं द्वारा समझें

1. दर्शनावरणीय कर्म—जिस तरह सूर्य के प्रकाश को बादल के आवरण ढांप लेते हैं उसी तरह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञानगुण आच्छादित हो जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से पदार्थों का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता है। कुछ ग्रन्थों में ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव मनुष्य की आँखों पर बँधी पट्टी के समान बताया गया है। जिस प्रकार आँखों पर पट्टी बँध जाने से मनुष्य को कुछ भी नहीं दिखाई देता, वह अन्धे के समान बन जाता है, उसी प्रकार इस कर्म के कारण जीव ज्ञानस्वभावी होते हुए भी अज्ञ-सा बना रह जाता है।



2. दर्शनावरणीय कर्म का स्वभाव राजा के द्वारपाल के समान बताया गया है।

जैसे राजा के दर्शन पाने वाले को द्वारपाल रोक देता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन गुण को रोक देता है।

3. वेदनीय कर्म का स्वभाव शहद में लिपटी हुई तलवार के समान बताया गया है। उस तलवार को चाटने से मनुष्य को शहद का मीठा स्वाद आता है तो

उसे सुख की अनुभूति होती है और जब तलवार की तीक्ष्ण धार से उसकी जुबान कट जाती है तो उसे दुःख का अनुभव होता है। इसी प्रकार वेदनीय कर्म आत्मा के अनन्त अव्याबाध सुख के गुण को



रोककर सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख-दुःख का अनुभव कराता है।

4. मोहनीय कर्म का स्वभाव मदिरा जैसा है। मदिरा पीकर जिस प्रकार मनुष्य अपने होश-हवास भूल जाता है, उन्मत्त बन जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय के कारण आत्मा अपनी निज की शक्ति को भूलकर स्व-पर-विवेक और हिताहित का ध्यान खो देता है।





5. आयुष्य कर्म का स्वभाव बन्दीगृह जैसा है। जिस प्रकार अर्वाधि पूरी होने से पहले अपराधी जेल से मुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार आयु समाप्त होने से पहले जीव वर्तमान पर्याय अथवा शरीर को नहीं छोड़ सकता। गोम्मटसार में आयुष्य कर्म को पैर में पड़ी हुई बेड़ी के समान बताया है। जैसे पैर में बेड़ी पड़ी होने पर मनुष्य एक ही स्थान पर पड़ा रहता है, वैसे ही आयुष्य कर्म जीव को अमुक भव में ही रोके रखता है।



उसके उदय रहते उस भव से छुटकारा नहीं होता।

6. नाम कर्म का स्वभाव चित्रकार जैसा है। जिस प्रकार चित्रकार भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के सुन्दर-असुन्दर चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म भी जीव के अरुपित्व गुण को रोककर भाँति-भाँति के शरीर, गति, जाति, रूप, रंग आदि की रचना करता है। वह विभिन्न गतियों में देव, मनुष्य, नारक, तिर्यच बनाता रहता है।

7. गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार जैसा है। जिस प्रकार कुम्हार छोटे-बड़े अनेक प्रकार के घड़े बनाता है। उनमें ऐसे घड़े भी होते हैं, जिनकी लोग प्रशंसा करते हैं, कलश कहते हैं और उनकी अक्षत आदि से पूजा करते हैं। कुछ घड़े ऐसे भी होते हैं जिनकी निन्दा करते हैं, जिनमें शराब आदि जैसे घृणित पदार्थ भरे जाते हैं। यही काम गोत्र कर्म भी करता है, वह आत्मा के अगुरुलघुत्व गुण को दबाकर उच्चकुल-नीचकुल का या अच्छे-बुरे का व्यवहार कराता है।



8. अन्तराय कर्म का स्वभाव कोषाध्यक्ष या भण्डारी के समान है। राजा की आज्ञा होने पर भी यदि भण्डारी याचक के प्रतिकूल हो तो याचक को धन प्राप्ति में बाधा पड़ जाती है। उसी प्रकार दान आदि देने की इच्छा और साधन-सामग्री होते हुए भी यदि अन्तराय कर्म का उदय हो तो मनुष्य दान नहीं दे पाता। इसी प्रकार उसे लाभ नहीं हो पाता। साधन-सामग्री होते हुए भी वह भोग नहीं कर पाता।

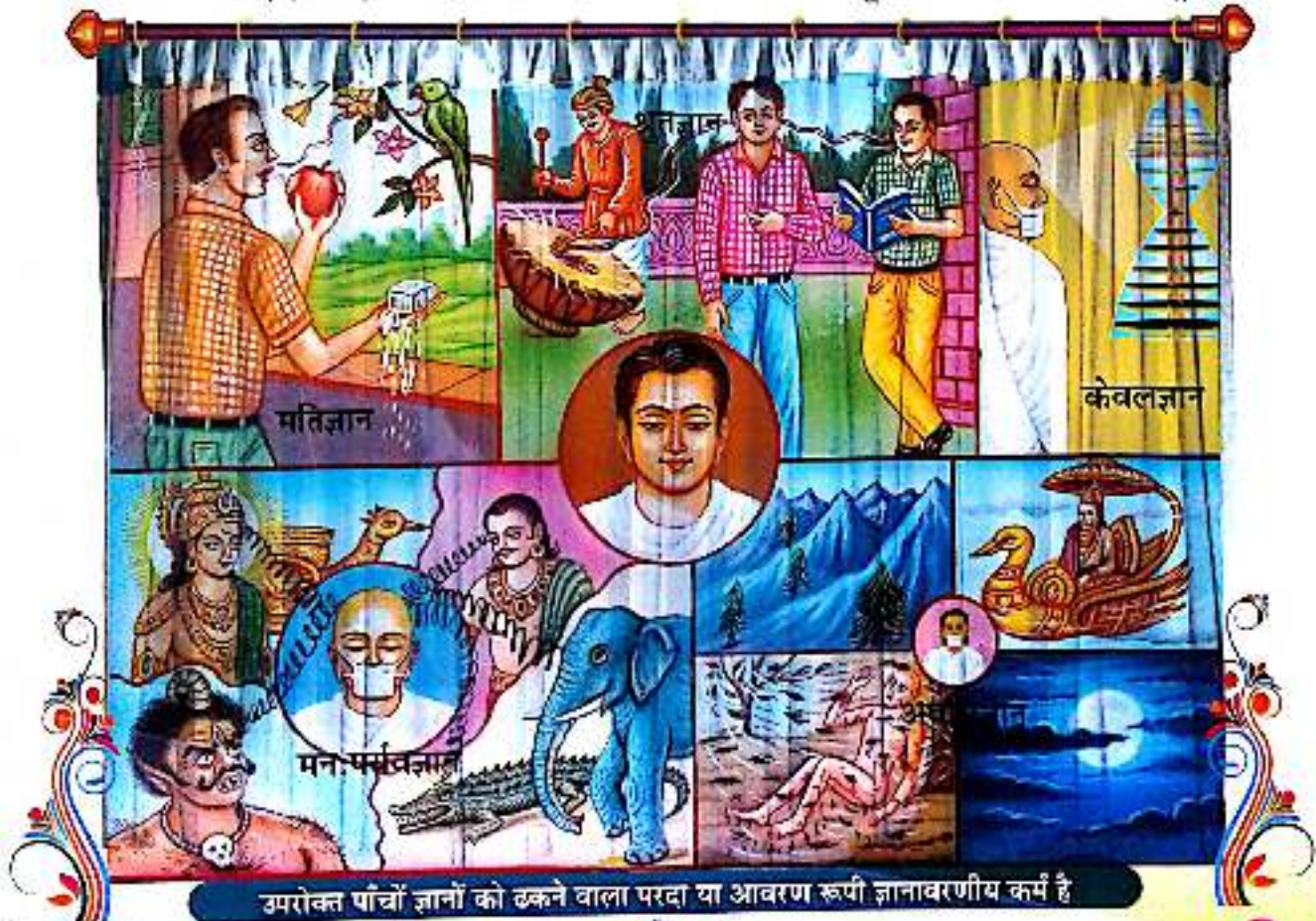


## आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ, बंध के कारण और फल भोग

आठ मूल कर्मों के विषय में जानने के पश्चात् हम उनके बंध के कारण, उत्तर प्रकृतियों के भेद और फल भोग के विषय में जानना चाहेंगे। पाँचवे अंगसूत्र श्री भगवतो सूत्र के आठवें शतक के नौवें उद्देशक में आठ कर्मों के बन्ध के कारण दिये गये हैं। यद्यपि सब कर्मप्रकृतियों के बन्ध हेतु सामान्य रूप से योग और कषाय ही हैं, फिर भी कषायजन्य अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों में से कौन-कौन-सी प्रवृत्ति किस-किस कर्म के बन्ध का हेतु हो सकती है, इसी बात को विभाग पूर्वक बतलाना प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य है। ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की 148 उत्तरप्रकृतियों के विषय में चौथे उपांगसूत्र श्री प्रज्ञापना सूत्र के तेईसवें पद के दूसरे उद्देशक में बताया गया है तथा इनके फलभोग के विषय में तेईसवें पद के पहले उद्देशक में बताया गया है।

### (1) ज्ञानावरणीय कर्म

आत्मा का पहला मूल गुण ज्ञान है। वह अनन्त है। अर्थात् अमर्यादित (Unlimited) है। वह जगत के सभी ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ है। फिर भी जैसे चटाई के करंडिए से प्रकाश को ढक लेने से उसके छिद्र में ही से प्रकाश बाहर आता है, इसलिए वह सभी को प्रकाशित नहीं कर सकता अथवा सूर्य पर बादल आ जाने से वह पूर्ण रूप से



उपरोक्त पाँचों ज्ञानों को ढकने वाला परदा या आवरण रूपी ज्ञानावरणीय कर्म है

सचित्र कर्म विज्ञान

29



प्रकाश नहीं देता। वैसे ही आत्मा के ज्ञान गुण को ढँकने वाला ज्ञानावरण रूप बादल है ज्ञानावरणीय कर्म। यहाँ यह जानने योग्य है कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को केवल ढँकते हैं, नष्ट नहीं करते। आत्मा के ज्ञान का कितना ही आवरण क्यों न हो जाए, उसे पूर्ण रूप से ढका भी नहीं जा सकता। जैसे प्रगाढ़ काली घटाओं द्वारा सूर्य को ढकने पर भी रात्रि एवं दिवस का बोध हो सके इतना सूर्य का प्रकाश तो रहता ही है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होने पर भी आत्मा अपना मूल स्वरूप जान सके, उतना बोध अथवा ज्ञान तो अवश्य ही अनावृत रहता है।

**ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ**—मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानों के आवरण ही इसकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं—

(1) **मतिज्ञानावरणीय कर्म**—यह आत्मा के मतिज्ञान (इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होने वाला ज्ञान अथवा मननरूप शक्ति, विचार, बुद्धि स्मृति आदि) को आच्छादित करता है।

(2) **श्रुतज्ञानावरणीय कर्म**—चौदह (अक्षरश्रुत आदि) अथवा बीस (पर्यायश्रुत आदि) भेद वाले श्रुतज्ञान (मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थों के विषय में अनेक अपेक्षाओं से चिन्तन करने रूप शक्ति) को आच्छादित करने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से मतिज्ञान बुद्धि की तीव्रता मन्दता का परिचायक है और श्रुतज्ञान शिक्षा आदि का। मतिज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होगा, प्राणी की बुद्धि भी उतनी ही तीव्र होगी और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होगा व्यक्ति उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा, डिग्रियाँ ले सकेगा।

(3) **अवधिज्ञानावरणीयकर्म**—यह आत्मा के अवधिज्ञान (रूपी पदार्थों को इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मशक्ति से प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान) को आवृत करता है।

(4) **मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म**—यह आत्मा के मनःपर्यवज्ञान (दूसरे के मन के भावों को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाला ज्ञान—ऋजुमति और विपुलमति दोनों प्रकार के मनःपर्यवज्ञान) को आच्छादित करता है।

(5) **केवलज्ञानावरणीय कर्म**—यह आत्मा के केवलज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान) को प्रगट नहीं होने देता।

**बन्ध के कारण**—यह छह प्रकार से बांधा जाता है—

(1) **ज्ञान की प्रतिनीकता**—ज्ञान तथा ज्ञानी की निन्दा करने से।

(2) **ज्ञान निन्दव**—कोई किसी से पूछे या ज्ञान का साधन माँगे, तब ज्ञान तथा ज्ञान के साधन





अपने पास होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि मैं नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं, यह ज्ञाननिह्व है। जिनसे ज्ञान सीखा हो उनका नाम छुपाना भी इसी के अन्तर्गत आता है।

(3) कलुषित भाव से ज्ञानाभ्यास में अन्तराय (बाधा) डालने से।

(4) ज्ञान या ज्ञानी की अशातना करने से अथवा ज्ञान देने वाले को रोकने से।

(5) ज्ञान से प्रद्वेष करने से—ज्ञान या ज्ञानी के प्रति द्वेष रखने से अथवा ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रति हृदय में जलन रखने के कारण।

(6) ज्ञान एवं ज्ञानियों का विसंवाद करने से अर्थात् उनमें दोष दिखाने के लिए व्यर्थ का विवाद करने से।

**फलभोग**—ज्ञानावरणीय कर्म का फल इन्द्रिय-शक्ति की क्षीणता के रूप में निम्न दस प्रकार से भोगा जाता है—

(1) श्रोतावरणीय—शब्द का ज्ञान नहीं होता है, श्रवणशक्ति भी नहीं होती। बहरा होना अथवा कम सुनना।

(2) श्रोत्रविज्ञानावरणीय—शब्द का ज्ञान तो होता है, परन्तु सुनने में उपयोग न लगना अर्थात् कोई बोले या कोई आवाज आये तो यह कौन बोल रहा है या यह कौन-से वाद्य यंत्र की आवाज है, इसका ज्ञान नहीं होता है।

(3) नेत्रावरणीय—रूप-रंग का ज्ञान नहीं होता है, देख नहीं सकता है। अंधा हो जाता है अथवा कम दिखता है।

(4) नेत्रविज्ञानावरणीय—नेत्र होते हैं, रूप-रंग का ज्ञान भी होता है। परन्तु कोई वस्तु, व्यक्ति आदि को देखकर यह निश्चत करने में असमर्थ होता है कि यह वही वस्तु अथवा व्यक्ति है।

(5) घ्राणावरणीय—गंध का ज्ञान नहीं होता, सूँघने की शक्ति नहीं होती है।

(6) घ्राणविज्ञानावरणीय—गंध का ज्ञान तो होता है, परन्तु विशेष ज्ञान नहीं होता है। गंध आ रही है यह तो पता चल जाता है परन्तु किसकी गंध आ रही है, यह पता नहीं चलता।

(7) रसनावरणीय—रस का ज्ञान नहीं होता, चख नहीं सकता।

(8) रसनाविज्ञानावरणीय—रस का ज्ञान तो होता है, परन्तु विशेष ज्ञान नहीं हो पाता है। जैसे—यह स्वाद अमुक मिठाई का है या अमुक वस्तु का है, यह निश्चत करने में असमर्थ रहता है।

(9) स्पर्शनावरणीय—स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। लकवा हो जाता है।





(10) स्पर्शनविज्ञानावरणीय—स्पर्श का ज्ञान तो होता है, परन्तु विशेष ज्ञान नहीं होता। स्पर्श करने से क्या वस्तु है, यह पता नहीं चलता है। अनेक अंधे व्यक्ति स्पर्श मात्र से कई बातों का ज्ञान कर लेते हैं, परन्तु इस कर्म के आवरण से वे यह ज्ञान नहीं कर सकते।

यह 10 प्रकार के फलभोग मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के होते हैं।

**ज्ञानावरणीय कर्म के निवारण के उपाय :**

1. जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है, ऐसी प्रवृत्तियाँ नहीं करना। जिस प्रकार रोग से मुक्ति पाने के लिए रोग के कारणों को जानकर उनसे बचना अत्यावश्यक है, उसी प्रकार कर्म रूपी रोग से बचने के लिए उनके बंध के कारणों से बचना जरूरी है।
2. बंध कारणों के अन्तर्गत जो विपरीत प्रवृत्ति की थी उसे सम्यक् करना। जैसे-ज्ञानियों की निंदा करने के बजाय उनकी प्रशंसा करना, ज्ञानदाता का उपकार मानना, दूसरों को ज्ञान सीखने की प्रेरणा देना, ज्ञानियों के प्रति विनय रखते हुए उनकी भक्ति बहुमान करना, ज्ञान की अनुमोदना करना और ज्ञानियों के साथ सम्यक् चर्चा करना आदि।
3. उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में कहा है—“सज्जाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ” अर्थात् स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय होते हैं। अतः प्रतिदिन सम्यक् श्रुत, आगम, शोकड़े, बड़ी साधु वन्दना आदि का स्वाध्याय करते रहना चाहिए।
4. ज्ञान-दान के अन्तर्गत जरूरतमंदों को ज्ञान के साधन (पुस्तकादि) उपलब्ध करवाना।
5. एक भवावतारी आचार्य सम्राट् पूज्य श्री जयमलजी म. सा.; जिनके ज्ञानावरणीय कर्म का इतना तीव्र क्षयोपशम था कि मात्र तीन घंटे में सम्पूर्ण प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर लिया और दीक्षा लेने के बाद जिन्होंने मात्र तीन वर्ष की अल्प अवधि में 32 आगम कण्ठस्थ कर लिए, ऐसे ज्ञानी महापुरुष को भाव सहित वन्दन कर ज्ञान सीखने से वह ज्ञान शीघ्र ही कण्ठस्थ हो जाता है। चमत्कारी जय जाप का नित्य स्मरण करना।

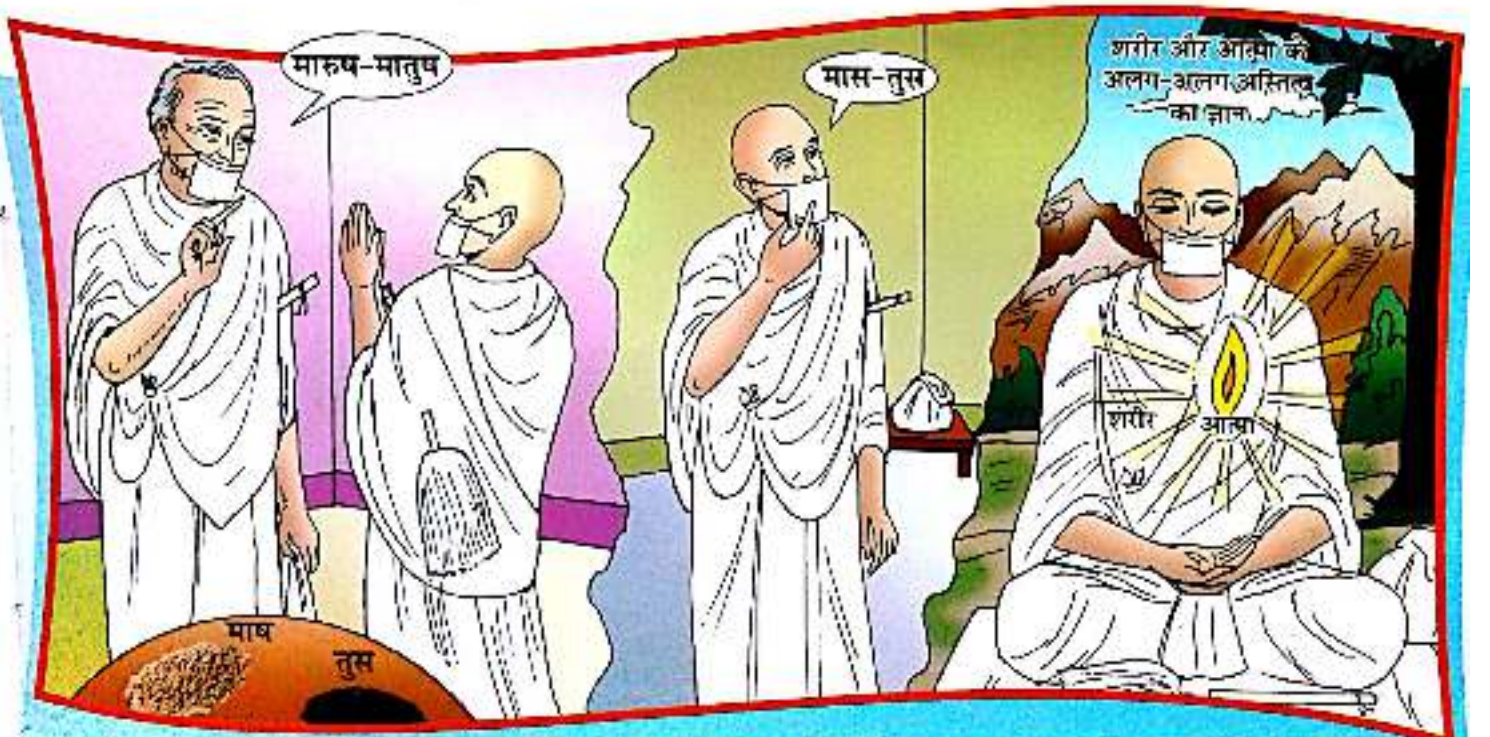
**ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति और अबाधाकाल**—इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीस कोटाकोटी सागरोपम की है तथा अबाधाकाल तीन हजार वर्ष है।





## माष-तुष मुनि की कथा (ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव)

जैन जगत् में माष-तुष मुनि का उदाहरण प्रसिद्ध है। किसी नगर में एक जैन श्रमण अपने शिष्यों के साथ चातुर्मास करने के लिए पधारे। चातुर्मास काल में गुरुदेव ने अपने एक शिष्य को एक गाथा याद करने के लिए दी, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी वे गाथा याद करने में बिलकुल असफल रहे। तब उनके गुरुदेव ने कहा—अच्छ वत्स! लो, सिर्फ इस वाक्य को कण्ठस्थ कर लो—“मारुष, मातुष।” (अर्थात्—किसी पर रोष-द्वेष मत करो, न किसी पर तोष-राग करो।) इसी से तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। मुनि प्रसन्नतापूर्वक मारुष, मातुष रटने लगे, परन्तु उनके पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय के कारण कुछ ही देर में वे इतना-सा वाक्य भी भूल गये। दूसरे साधु उन्हें याद दिलाते, फिर भी वे भूल जाते। धीरे-धीरे वे ‘मारुष, मातुष’ की जगह ‘मास-तुस, मास-तुस.....’ रटने लगे। शिष्य को गुरु पर अपार श्रद्धा थी, उनकी मंदबुद्धि पर लोग हँसते, तो भी वे समभावपूर्वक सहते थे। शुद्ध भाव से अशुद्ध रूप में भी गुरु-प्रदत्त वाक्य को उन्होंने बारह वर्ष तक रटा। वे श्रद्धापूर्वक उद्वेग एवं क्षोभ से रहित होकर रटते रहते। अतः ज्ञानावरण कर्म कटने लगा और बारहवें साल में उन्हें माष—उड़द और तुस—छिलके के पृथकत्व की तरह शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान सिद्ध हो गया। फलतः केवलज्ञान प्रगट हो गया। यह था ज्ञानावरणीय कर्म के स्वभाव का प्रत्यक्ष प्रभाव और उससे सर्वथा मुक्त होने का फल।





## (2) दर्शनावरणीय कर्म

आत्मा का दूसरा मूल गुण दर्शन है। जो कर्म पुद्गल आत्मा के दर्शन गुण को आवरण करने के स्वभाव वाले होते हैं, उन्हें दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान और दर्शन दोनों ही आत्मा के गुण हैं, फिर भी उनमें थोड़ा-सा अन्तर है। सोचने-समझने के विशेष बोध को ज्ञान कहते हैं और अनुभव (अहसास) रूप सामान्य बोध को दर्शन कहते हैं। जैसे एक गाड़ी है, उसका रूप देखना दर्शन है और उस गाड़ी का मूल्य-गति-मॉडल आदि की जानकारी होना ज्ञान है।

**दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ—दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियाँ हैं—**

(1) **चक्षुदर्शनावरणीय कर्म**—यह कर्म चक्षु (आँखों) द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ज्ञान) को आच्छादित करता है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा त्रीन्द्रिय जीवों के चक्षुदर्शन के आवरण होते ही हैं। उनके चक्षुरिन्द्रिय होती ही नहीं है।

(2) **अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म**—यह चक्षु के अतिरिक्त शेष सभी इन्द्रियों (स्पर्शना, रसना, घ्राण और श्रोत्र) द्वारा होने वाले सामान्य ज्ञान को आवृत्त करता है।

(3) **अवधिदर्शनावरणीय कर्म**—श्रोत्र आदि इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा को सीधा (Direct) रूपी (वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले) पदार्थों का कुछ मर्यादा को लिए हुए, जो सामान्य बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। अवधिदर्शनावरणीय कर्म अवधिदर्शन को आच्छादित कर देता है।

(4) **केवलदर्शनावरणीय कर्म**—आत्मा द्वारा जगत् के समस्त त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती पदार्थों का एक साथ (युगपत्) जो सामान्य बोध होता है, वह केवलदर्शन है। इस केवलदर्शन को आवृत्त करने, रोकने वाली कर्मशक्ति का नाम केवलदर्शनावरणीय कर्म है।

**दर्शन के आवरण स्वरूप निद्रा के पाँच प्रकार—**जब प्राणी सोता है तब उसका दर्शन रुक जाता है। सोया हुआ मनुष्य सामान्य बोध प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए निद्रा आदि पाँच दर्शनावरणीय कर्म के अंग ही माने गए हैं। निद्रा के पाँच प्रकार निम्न हैं—



(5) **निद्रा**—जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आए, जिसमें सोया हुआ व्यक्ति सरलता से जाग जाए। वह निद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। जैसे सुबह होने पर माँ बेटे को उठतो है। बेटा तुरन्त एक ही आवाज में उठ जाता है।



(6) **निद्रा-निद्रा**—जिस कर्म के उदय से ऐसी प्रगाढ़ नींद आए, जिसमें सोने वाला व्यक्ति बड़ी मुश्किल से जागे। उसे निद्रा-निद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।







**विशेष**—चक्षुदर्शनावरण आदि चारों प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म तो मूल से ही दर्शन-लब्धि का घात करते हैं और पाँचों प्रकार की निद्राएँ, प्राप्त दर्शन-लब्धि का घात करती हैं।

**बन्ध के कारण**—दर्शनावरणीय कर्म बंध के छह कारण हैं—

- (1) दर्शन अथवा दर्शनवान व्यक्ति की निन्दा करने से।
- (2) दर्शन का स्वरूप मालूम होने पर भी उसे छिपाने से।
- (3) दर्शन के अभ्यास में बाधा डालने से अर्थात् दर्शन करने वाले को रोकने से। जैसे—कोई व्यक्ति साधु-श्रमणों के दर्शन करने जा रहा है तो उसे किसी प्रकार रोक देना, अथवा इस प्रकार खड़े हो जाना जिससे पीछे वाले लोग उनके दर्शन न कर सकें।
- (4) दर्शन अथवा दर्शनवान की अशातना करने से।
- (5) दर्शन अथवा दर्शनवान के प्रति द्वेष रखने से या दर्शन के साधनों के प्रति जलन रखने से।
- (6) दर्शन अथवा दर्शनवान के साथ उनके दोष निकालने की दृष्टि से व्यर्थ का वाद-विवाद खड़ा कर देने से।

**फलभोग**—इस कर्म का फलभोग दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उदय है। ये उत्तर प्रकृतियाँ क्रमशः चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवाधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि हैं।

**दर्शनावरणीय कर्म के निवारण के उपाय—**

1. निद्रा, आलस्य का परित्याग कर अप्रमत्त बनें। जीवन में अप्रमत्त बनना है तो सदैव जागृत रहना होगा। धर्म पुरुषार्थ में जागृति और तीव्रता आने पर दर्शनावरणीय कर्म क्षय होते हैं।
  2. जहाँ ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है, वहाँ दर्शनावरणीय कर्म का भी बंध होता है, अतः निन्दा, अशातना आदि कारणों से बचना चाहिए।
  3. नगर में विराजित साधु-साध्वियों के प्रतिदिन अवश्य दर्शन करने का लक्ष्य रखें।
  4. ध्यान के द्वारा निद्रा पर विजय प्राप्त करने हेतु सतत् प्रयास करते रहें।
  5. 50 वर्ष तक आड़ा आसन नहीं करने वाले अप्रमत्त साधक, निद्रा विजेता आचार्य सम्राट् पूज्य श्री जयमलजी म.सा. के नाम की एक माला—“पूज्य जयमल्लाय नमः”—प्रतिदिन निरन्तर फेरने से दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।
- दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति और अबाधाकाल**—इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोटाकोटी सागरोपम की है तथा अबाधाकाल तीन हजार वर्ष है।





## आनन्द श्रावक की कथा (दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम का प्रभाव)

वाणिज्यग्राम नगर में आनन्द नाम का एक महान ऋद्धिवान गृहस्थ रहता था। उसकी पत्नी का नाम 'शिवानंदा' था। आनन्द जितने वैभवशाली थे, उतने ही बुद्धिमान, उदार और लोगों के विश्वासपात्र थे। वे सबको सच्ची सलाह देते थे, सबको उन पर विश्वास था।

एक बार भगवान महावीर वाणिज्य ग्राम नगर के द्युतिपलाश उद्यान में पधारे। राजा आदि की तरह आनन्द भी उनके दर्शन और वंदन करने गये। भगवान का वैराग्यपरक उपदेश सुनकर उन्हें समकित की प्राप्ति हुई और उन्होंने श्रावक के बारह व्रत धारण किए।

आनन्द श्रावक भगवान के दर्शन-वंदन करके घर पहुँचे। आज उन्हें सच्ची समझ प्राप्त हुई, इसलिए वे आनन्द में थे। वे खुद को धन्य मान रहे थे और पत्नी को भी ऐसा महालाभ दिलाने की इच्छा उनके मन में थी। घर जाकर पत्नी से कहा—“आज का दिन हमारे लिए परम कल्याणकारी है, ऐसा लाभ फिर नहीं मिलेगा। हमारे नगर के बाहर भगवान महावीर पधारे हैं। उनकी पावन वाणी से प्रेरणा पाकर



मैंने श्रावक के बारह व्रत धारण किए हैं। आप भी वहाँ जाकर भगवान को वंदन नमस्कार करके, व्रत धारण करके, श्राविका बनकर, मानव-जन्म को सफल बना लो।” पत्नी शिवानंदा, आनन्द श्रावक के वचन सुनकर आनन्दित हुई। वह भी प्रभु के पास जाकर बारह व्रतधारी श्राविका बन गई।

आनन्द श्रावक के बारह व्रत धारण करने का पन्द्रहवाँ वर्ष चल रहा था। उन्होंने अपने बड़े पुत्र को सारा कारोबार सौंपा और धर्मभ्यान में लग गये। वे पौषधशाला में श्रावक की ग्यारह पडिमा (विशेष नियम) धारण कर रहने लगे। इन ग्यारह पडिमाओं की आराधना करने में पाँच साल लगे। उनका शरीर तप-त्याग के कारण दुर्बल और खून-मांस के बिना सूख गया था। उनके शरीर में से हड्डियाँ और नसें दिखने लगीं। एक रात को धर्मचिंतन करते उन्होंने सोचा कि 'अब मैं बहुत दुर्बल हो गया हूँ, परन्तु जब तक मेरी आत्मा तथा शरीर में शक्ति है और जब तक मेरे धर्मगुरु, धर्माचार्य महावीर प्रभु सदेह पृथ्वी पर विचर रहे हैं, तब तक मैं मेरी अंतिम साधना कर लूँ।' ऐसा चिन्तन कर उन्होंने संथारा लेकर आहार पानी का सर्वथा त्याग कर दिया और आत्मा के शुभ भावों में रमण करने लगे। शुभभाव, सुन्दर परिणाम तथा लेश्या की शुद्धि से



उनके ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हुआ और उन्हें अवधिज्ञान-अवधिदर्शन की प्राप्ति हो गयी।

उसी समय भगवान महावीर स्वामी उनके नगर में पधारे। गणधर गौतम छट्ट (बेले के) के पारणे के लिए प्रभु की आज्ञा लेकर नगर में गये। वहाँ लोग आनन्द श्रावक के संधारे (संलेखना) को चर्चा कर रहे थे, यह सुनकर उन्हें आनन्द श्रावक को दर्शन देने की भावना हुई। वे आनन्द श्रावक की पौषधशाला में गये। उन्हें देखकर आनन्द श्रावक ने आनंदित होकर सोते-सोते ही उन्हें वंदन नमस्कार किया और कहा—“आप मेरे निकट पधारिए। मैं आपके चरण में वंदन करना चाहता हूँ। क्योंकि मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि मैं आपके पास आ सकूँ।”

गौतम गणधर के निकट आते ही आनन्द श्रावक ने वंदन नमस्कार करके पूछा—“क्या श्रावक को अवधिज्ञान हो सकता है?” गौतम गणधर ने हाँ कहा। आनन्द श्रावक ने कहा—“मुझे आपकी कृपा से अवधिज्ञान हुआ है और मैं लवण समुद्र में 500 योजन तक और नीचे पहली नरक के “लोलुयच्चुय” नरकावास तक तथा उर्ध्व दिशा में प्रथम देवलोक तक देख सकता हूँ।”



गौतम स्वामी ने कहा—“श्रावक को इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं होता। आपको असत्य लगता है। इसलिए इसकी आलोचना करो।” आनन्द श्रावक ने सविनय कहा—“क्या सच बोलने वाले को भी आलोचना करनी पड़ती है?” गणधर गौतम, आनन्द श्रावक को बात सुनकर भगवान महावीर के पास आए। भगवान को वंदन नमस्कार करके पूछा—“भते! आनन्द श्रावक को आलोचना करनी चाहिए या मुझे करनी चाहिए।” भगवान ने कहा—“आनन्द श्रावक ने सत्य कहा है, इसलिए आप उनके पास जाकर क्षमा माँगी।” गौतम स्वामी ने तुरन्त वापिस नगर में जाकर आनन्द श्रावक से क्षमा माँगी।

आनन्द श्रावक ने 20 साल तक श्रावक धर्म की आराधना की, एक महीने का संलेखना संधारा करके मृत्यु पाकर पहले देवलोक में देव के रूप में जन्म लिया।

**कथा का मर्म**—ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान एवं अवधिदर्शन उत्पन्न हुआ जिससे वे इतनी दूरी तक देखने में सक्षम थे।





### (3) वेदनीय कर्म

आत्मा का तीसरा गुण अव्यावधान्त सहज सुख है। वेदनीय कर्म के उदय से वह दब जाता है और जीव को कृत्रिम व पराधीन सुख व दुःख मिलता है। इस कर्म के कारण जीवात्मा जिस भौतिक सुख को प्राप्त करता है, उसके प्रति गहरा राग और वह सुख न मिले तो हृदय में गहरा रोष उत्पन्न हो जाता है।

**उत्तरप्रकृतियाँ**—वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—(1) सातावेदनीय, (2) असातावेदनीय।

(1) **सातावेदनीय कर्म**—जिसके उदय से जीव इन्द्रिय-विषयजन्य सुख का वेदन करे उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं। इससे अनुकूल संयोगों की प्राप्ति, शारीरिक, मानसिक, सुख का अनुभव होता है। उदाहरणार्थ—निरोग शरीर, इष्ट मित्र, धन-धान्य, अनुकूल पत्नी आदि की प्राप्ति।

(2) **असातावेदनीय कर्म**—इसके उदय से जीव असाता का वेदन करे उसको असातावेदनीय कर्म कहते हैं। इससे प्रतिकूल संयोगों की प्राप्ति होती है और वह शारीरिक तथा मानसिक बलेश अथवा दुःख पाता है। जैसे—रोग, पीड़ा, कलह-कारिणी स्त्री, शत्रुओं का संयोग तथा इच्छित विषयाभोगों का प्राप्ति न होना आदि।

**बन्ध के कारण**—(1) भगवती सूत्र में सातावेदनीय कर्म बन्ध के दस कारण बताये हैं—



(1) प्राण अनुकम्पा—द्विन्द्रिय, तिन्द्रिय, चौरिन्द्रिय (विकलेन्द्रिय) जीवों पर अनुकम्पा करने से। (2) भूत अनुकम्पा—वनस्पति जीवों पर अनुकम्पा करने से। (3) जीव अनुकम्पा—पंचेन्द्रिय जीवों पर अनुकम्पा रखने से। (4) सत्व अनुकम्पा—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु पर अनुकम्पा करने से। (5) छह काय के जीवों को दुःख न देने से। (6) छह काय के जीवों को शोक न देने से। (7) छह काय के जीवों को विषाद (झूठाना) या खेद न देने से। (8) बिलाप एवं रुदन कराकर आँसू न बहवाने से। (9) उनको न पीटने से। (10) उन्हें परिताप न देने से।



(2) तन्वार्थ सूत्र में असातावेदनीय कर्म बन्ध के निम्नलिखित कारण बताये हैं—

(1) चाह या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुःख है। (2) किसी हितैषी के सम्बन्ध के टूटने से चिन्ता और खेद होना शोक है। (3) अपमान से क्लुषित होने के कारण जो तीव्र संताप होता है, वह ताप है। (4) गद्गद स्वर से आँसू गिराने के साथ रोना-पीटना आक्रन्दन है। (5) किसी के प्राण लेना बध







है। (6) वियुक्त व्यक्ति के गुणों का स्मरण होने से जो करुणाजनक रुदन होता है, वह परिदेवन कहलाता है।

उक्त दुःख आदि छह और उन जैसे अन्य भी ताड़न तर्जन आदि अनेक निमित्त जब स्व (अपने में) या दूसरे में या दोनों में ही पैदा किए जाएँ तब वे उत्पन्न करने वाले के आसातावेदनीय कर्म के बन्ध हेतु बनते हैं। उपरोक्त छह कारण 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से बारह प्रकार के हो जाते हैं।

श्वेताम्बर मान्यता में प्राण-भूत-जीव-सत्त्व को दुःख देना,

बहुत दुःख देना, शोक कराना, बहुत शोक कराना, झुराना, बहुत झुराना, रूलाना, बहुत रूलाना, पीटना, बहुत पीटना, परिताप देना, बहुत परिताप देना-ये बारह कारण असातावेदनीय कर्म के बताए गए हैं।

**फलभोग**—सातावेदनीय के प्रभाव (उदय) से प्राणी निम्नोक्त सुखद-संवेदना प्राप्त करता है—(1) कर्णप्रिय, मनोज्ञ, सुखद स्वर श्रवण करने की उपलब्धि, (2) मनोज्ञ सुखद सुन्दर रूप दर्शन की प्राप्ति, (3) सुखद मनोज्ञ सुगन्ध की प्राप्ति, (4) सुखद भोजनादि की उपलब्धि, (5) मनोज्ञ कोमल सुखद स्पर्श वाले पदार्थों की उपलब्धि, (6) वांछित सुखों की प्राप्ति, (7) शुभवचन, प्रशंसादि श्रवण के अवसर, (8) शारीरिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति।

इसके विपरीत असातावेदनीय कर्म-बंध के पूर्वोक्त कारणों में से किसी भी कारणभूत क्रिया के विपाक (फल) के रूप में आठ प्रकार की दुःखद-संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं—(1) कर्ण-कटु कर्कश स्वर अपने या दूसरे लोगों से सुनने को मिलते हैं, (2) स्व-पर का अमनोज्ञ या सुन्दरतरहित रूप देखने को मिलता है, (3) अमनोज्ञ गन्धों की किसी भी निमित्त से प्राप्ति होती है, (4) बेस्वाद, रूखा-सूखा या नीरस या बासी भोजनादि प्राप्त होता है, (5) अमनोज्ञ, कठोर, कर्कश (खुर्दरा), और दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, (6) अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियाँ, चिन्ताएँ, तनाव आदि होते हैं, (7) निन्दा, गाली, अपमानजनक शब्द, अप्रिय वचन सुनने को मिलते हैं, और (8) शरीर में विविध रोग, पीड़ा, अस्वस्थता, अंगभंग आदि दुःखद शारीरिक संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।

**वेदनीय कर्म के निवारण के उपाय :**

1. संसार के समस्त प्राणियों के सभी प्रकार के दुःख दूर हों एवं सभी सुखी हों-ऐसी मंगल भावना रखना।
2. जीवन में जब भी कोई प्रतिकूलता, शारीरिक बीमारी या कष्ट आए तब अपने ही असातावेदनीय कर्म का प्रभाव मानकर उस वेदना को समभावपूर्वक सहन करना।
3. अपने शुभ अध्यवसायों (12 भावना) के द्वारा असातावेदनीय कर्म को सातावेदनीय में संक्रमित करने हेतु पुरुषार्थ करें। जैसे अनार्थी मुनि और नमिराजर्षि ने किया था।
4. जो भी रूग्ण हैं, ग्लान हैं-चाहे वे गृहस्थ हो या सन्त, चाहे बालक हो या वृद्ध-सबकी निःस्वार्थ भाव से भक्ति-बहुमानपूर्वक सेवा करना।
5. उपवास आदि तपस्या एवं आतापना आदि कायाक्लेश के द्वारा स्वयं अपनी इच्छा से असातावेदनीय कर्म की उद्दीरणा करते हुए उन कर्मों का क्षय करना।
6. सातावेदनीय कर्म के उदय काल में अनासक्तता बनाए रखना।

**वेदनीय कर्म की स्थिति और अबाधाकाल**—इसकी स्थिति जघन्य बारह मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोटाकोटी सागरोपम की है और अबाधाकाल तीन हजार वर्ष है।



## सुबाहुकुमार की कथा (सातावेदनीय कर्म का बंध)

हस्तिशीर्ष नामक नगर में अदीनशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। धारिणी देवी उसकी पट्टरानी थी।

एक रात्रि में धारिणीदेवी ने स्वप्न में सिंह को देखा। जागृत होने पर उसने राजा अदीनशत्रु को स्वप्न सुनाकर स्वप्न-फल पूछा। राजा ने बताया कि तुम्हें एक तेजस्वी पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। गर्भकाल पूरा होने पर धारिणीदेवी ने एक सुन्दर, सुकुमार पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सुबाहुकुमार रखा।

युवावस्था आने पर राजा अदीनशत्रु ने उसके लिए पाँच सौ श्रेष्ठ, भव्य, सुन्दर महलों का निर्माण कराया और उन सभी महलों के मध्य एक अति विशाल और उत्कृष्ट महल बनवाया और कुछ ही दिनों पश्चात् पाँच सौ राजकन्याओं से उसका विवाह कर दिया। अब सुबाहुकुमार उन अप्सरा समान पाँच सौ राजकन्याओं के साथ ऊँचे भव्य महलों में मानवोचित, मनोज्ञ विषयभोगों को यथारूचि उपभोग करने लगा।

एक दिन प्रभु भगवान महावीर हस्तिशीर्ष नगर में पधारे। वहाँ की जनता प्रभु के दर्शन-वन्दन करने, उनकी देशना सुनने गई। राजा अदीनशत्रु भी अपनी रानियों, मन्त्रियों आदि के साथ प्रभु के समवसरण में दर्शन करने गया। सुबाहुकुमार भी अपने सुसज्जित रथ पर बैठकर अपनी रानियों के साथ वहाँ दर्शन करने पहुँचा।

भगवान ने सभी को धर्मदेशना प्रदान की। देशना को सुनने के पश्चात् जन-परिषद्, राजा आदि सभी यथास्थान लौट गये। परन्तु सुबाहुकुमार देशना पर मनन-चिन्तन करता हुआ वहीं बैठा रहा। उस देशना को आत्म-कल्याणी मान प्रभु से बोला—“हे भगवन् ! मुझे संयम में ही अपना कल्याण दिखाई दे रहा है। मैं विषय-कषायों के कीचड़ से निकलना चाहता हूँ, पर हे प्रभु ! मैं श्रावणों में आकर, मुँडित होकर, अनगार धर्म स्वीकार करने में अभी समर्थ नहीं हूँ, अतः मुझे श्रावण के बारह व्रत देकर अनुग्रहित कीजिए।” प्रभु ने अपने श्रीमुख से सुबाहुकुमार को बारह व्रतों का प्रत्याख्यान करा दिया। सुबाहुकुमार बारह व्रत धारण कर वापस अपने महलों में लौट आया।

सुबाहुकुमार के जाने के पश्चात् गौतमस्वामी ने सुबाहुकुमार के सुन्दर रूप-स्वरूप और धर्म के प्रति अनुराग को देखकर प्रभु से प्रश्न किया—“प्रभु ! वह सुबाहुकुमार इतना सुदर्शनीय, सुभग और सुरूप है कि साधुजनों को भी मनोरम लगता है। उसे ऐसी शारीरिक समृद्धि कैसे उपलब्ध हुई ?”

गौतमस्वामी की जिज्ञासा शांत करते हुए भगवान महावीर ने कहा—“हे गौतम ! यह जानने के लिए मैं तुम्हें सुबाहुकुमार का पूर्वभव सुनाता हूँ—जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नामक एक नगर था, जहाँ सुमुख गाथापति रहता था। एक बार हस्तिनापुर में स्थविर मुनि श्री धर्मघोष पधारे और नगर के बाहर ‘सहस्राक्ष वन’ नामक उद्यान में रुके। उनके एक शिष्य थे—सुदत्त। वे सुदत्त मुनि उग्र तपस्वी थे,





अतः अनेक लब्धियों के धारक थे। मासखमण तप के पारणे के दिन एक बार वे सुदत्त मुनि सुमुख गाथापति के घर पधारे।

सुमुख गाथापति उन मुनिवर को अपने घर में शिक्षार्थ प्रवेश करते देख अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उनसे आहार ग्रहण करने की प्रार्थना करते हुए उन्हें अत्यन्त हर्षित भाव से आहार बहराया। देवताओं ने उसके इस उत्कृष्ट दान की अनुमोदना करते हुए पाँच दिव्य प्रकट किए—(१) स्वर्ण वृष्टि, (२) अचित्त फूलों की वर्षा, (३) देव-वस्त्र की वृष्टि, (४) देव-दुन्दुभियों का वादन, (५) “अहो दानं, अहो दानं” का गगन-घोष। आहार देने के पश्चात् सुमुख को अपने अन्तर् में अत्यन्त संतोष और आनन्द का अनुभव हुआ। उसने चिन्तन किया—‘मैं धन्य हुआ। मुझे आज उत्कृष्ट सुपात्रदान देने का अवसर प्राप्त हुआ है।’ इस तरह उसके मन में निर्दोष आहारदान देने के पश्चात् अत्यन्त आनन्द का भाव आया।

सुबाहुकुमार के पूर्वभाव की घटना सुनाते हुए प्रभु महावीर ने कहा—हे गौतम! वही सुमुख गाथापति अपनी आयुष्य पूर्ण कर सुबाहुकुमार के रूप में यहाँ उत्पन्न हुआ है। अपने महादान के संचित पुण्य के कारण उसे इस मानवीय शारोरिक ऋद्धि की प्राप्ति हुई।

कथासार—शुद्ध संयम का पालन करने वाले मुनिवरों को सेवा से जीव सातावेदनीय का उपार्जन कर लेता है, जिसके परिणामस्वरूप जीव को—(१) मनोज्ञ शब्द, (२) मनोज्ञ रूप, (३) मनोज्ञ गंध, (४) मनोज्ञ रस, (५) मनोज्ञ स्पर्श, (६) मन-सुख, (७) वचन-सुख, (८) काय-सुख की प्राप्ति होती है।



### नागश्री ब्राह्मणी की कथा (असातावेदनीय कर्म का बंध)

नागश्री चम्पानगरी में रहने वाले सोम की पत्नी थी। सोम, सोमदत्त और सोमभूति ये तीनों भाई वेदज्ञान में निष्णात पंडित थे। किसी अवसर पर तीनों भाइयों का परिवार सोम के यहाँ एकत्रित हुआ। नागश्री ने उन सभी के भोजन हेतु अनेक उत्तम पदार्थ अपने हाथों से बनाए। इन पदार्थों में एक तुम्बे की सब्जी भी थी। अनेक मसालों से युक्त तथा आवश्यक चिकनाई (घो) से परिपूर्ण वह सब्जी देखने में बहुत अच्छी मालूम देती थी, फिर भी नागश्री ने अपनी आदत के अनुसार उस सब्जी की कुछ बूँदें अपनी हथेली पर टपकाकर उसे चखा तो जाना कि वह सब्जी तो अत्यन्त कड़वी, खारी-विषैली है।

नागश्री ने सोचा—‘अब क्या करूँ? अभी सब आँखें और सब्जी देखेंगे तो मेरा मजाक उड़ायेंगे। मुझे इस सब्जी को निकालकर दूसरी सब्जी बनानी चाहिए।’ ऐसा सोचकर वह अपने काम में व्यस्त हो गई।

उस समय चम्पानगरी में धर्मघोष नाम के आचार्य अपने शिष्य समुदाय के साथ पधारे थे। उनके धर्मरुचि नाम के एक उग्र तपस्वी शिष्य थे। वे मासखमण के पारणे-मासखमण की अति कठोर तपश्चर्या करते थे।

आज मुनि धर्मरुचि के मासखमण तप के पारणे का दिन था। इसलिए वे अपने गुरु की आज्ञा लेकर चम्पानगरी में गोचरी लेने एक घर से दूसरे घर घूमते-घूमते नागश्री ब्राह्मणी के घर पहुँच गये। धर्मरुचि अणगार को अपने आँगन में आते



देखकर नागश्री को गुप्त आनन्द की अनुभूति हुई। अपनी भूल छुपाने के लिए उसने, इन मुनि का क्या होगा? यह सोचे बिना, तूम्बे की पूरी सब्जी उन मुनि के पात्र में बहरा दी। इतना आहार मेरे लिए पर्याप्त होगा, यह सोचकर धर्मरुचि अणगार अपने स्थान पर वापस आ गये। मुनि को कड़वी सब्जी बहराने के कारण नागश्री ने भोरातिघोर असातावेदनीय कर्म का बंध कर लिया।

धर्मरुचि ने गोचरी में लाई हुई सब्जी गुरुदेव धर्मघोष मुनि को बताई। गुरु को सब्जी का गन्ध पर शंका हुई और एक बूंद चखकर उन्होंने उसे कड़वा और न खाने जैसी जानकर धर्मरुचि अणगार को कहा—“यदि यह सब्जी खाओगे तो अवश्य ही तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। इसलिए हे मुनिराज! इस सब्जी को अचित्त और निरवद्य भूमि पर यतनापूर्वक परत दो और दूसरा निर्दोष आहार लाकर गोचरी करो।”

गुरु आज्ञा पाकर धर्मरुचि अणगार ने दूर जाकर निर्दोष भूमि देखकर एक बूंद सब्जी की जमीन पर डाली। सब्जी की भारी गंध से तुरन्त ही वहाँ चींटियाँ आ गईं। उन चींटियों ने जैसे ही सब्जी खाई कि तुरन्त चींटियाँ कालधर्म को प्राप्त हो गईं। धर्मरुचि अणगार यह दृश्य देखकर कांपने लगे। उन्होंने सोचा—‘यदि सब्जी का एक बूंद से इतनी चींटियाँ मर गई, तो जब मैं ये पूरी सब्जी परत दूँगा तो कितनी हिंसा होगी? मुझे घोर हिंसा का पाप लगेगा।’ जैन मुनि दयालु होते हैं, दूसरे के दोष की ओर दृष्टि भी नहीं डालते और अहिंसा पालन के लिए प्राण देने में भी नहीं हिचकित करते। उसी तरह धर्मरुचि अणगार ने मन से भी नागश्री का जरा भी दोष नहीं देखा और सोचा कि जहाँ एक भो चींटी की मृत्यु न हो, वैसा निरवद्य स्थान तो मेरा पेट ही है। इसलिए मैं ये सारी सब्जी खा जाऊँ तो कई जीवों की प्राण रक्षा होगी। ऐसा सोचकर उन्होंने पूरी सब्जी स्वयं ही खा ली।

कड़वी सब्जी के कारण उनके शरीर में वेदना उत्पन्न हुई। वह वेदना असह्य थी, फिर भी उन्होंने समभाव से सहन किया। उन्होंने जीवन पर्यंत के पापों की आलोचना, प्रतिक्रमण किया और सनाधिपूर्वक कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुए।

धर्मरुचि को आने में देर होते देख गुरु ने अपने दूसरे शिष्यों को उनको खोज करने भेजा। खोज करते-करते शिष्यों को, धर्मरुचि अणगार कालधर्म को प्राप्त हुए, ऐसी जानकारी मिली। यह समाचार उन्होंने अपने गुरु को दिए। गुरु ने अपने ज्ञान द्वारा यह कृत्य नागश्री का है, ऐसा जाना।

लोगों को इस बात की धीरे-धीरे खबर मिली और लोग नागश्री को धिक्कारने लगे। अपनी भूल छुपाने से बेइज्जती हुई। तीनों भाइयों ने मिलकर उसे घर से बाहर निकाल दिया।

अब वह भोख भौंगकर गुजारा करने लगी। उसको पोड़ा होने लगी। असातावेदनीय कर्म के उदय से उसके शरीर में 16 महारोग पैदा हो गए। जीवन के अंत समय तक दुःखी रहकर वह छठी नरक में उत्पन्न हुई। वहाँ से आयु पूर्ण कर मत्स्य योनि में उत्पन्न हुई, जहाँ शस्त्र से उसका वध हुआ और शरीर में दाह उत्पन्न होने से मृत्यु प्राप्त कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुई। अनेक भव करने के बाद वह सुकुमालिका बनी। (मोहनीय कर्म में आगे का दृष्यन्त)

—साताधर्मकथांग सूत्र, अ. 16





#### (4) मोहनीय कर्म

आत्मा का चौथा गुण क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र (वीतरागता) है। उसको रोकने वाला मोहनीय कर्म है। इसके उदय से जीव अपनी वीतराग अवस्था को भूलकर भौतिक सुखों की प्रति आकृष्ट हो जाता है और संसार में अनेक प्रकार से मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अव्रत, हास्य आदि व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का शिकार बनता है।

मोहनीय कर्म आठ कर्मों में सबसे अधिक शक्तिशाली कर्म है। यदि सात कर्मों को प्रजा मान लिया जाये तो यह उनका राजा है। इसके उदय से आत्मा इन्द्रियों के क्षणिक वैषयिक सुखों को भी सुख समझने लगती है। इसके उदय से क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र गुण प्रकट नहीं हो सकता।

मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—मोहनीय कर्म के मूलतः दो भेद हैं—(1) दर्शनमोहनीय कर्म और (2) चारित्रमोहनीय कर्म।

दर्शनमोहनीय कर्म—यह आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करता है। सम्यक्त्व का अभिप्राय है जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी यथार्थ रूप में समझना और उस पर श्रद्धा (विश्वास) करना। यह कर्म आत्मा के इस सहज स्वाभाविक 'सम्यक्श्रद्धा' रूप गुण का घात अर्थात् आवृत्त करता है। यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि दर्शनावरणीय कर्म का 'दर्शन' शब्द और दर्शनमोहनीय कर्म का 'दर्शन' शब्द का अर्थ बिलकुल अलग-अलग है। दर्शनावरणीय कर्म के 'दर्शन' शब्द का तात्पर्य सामान्य बोध अथवा देखने से है। जबकि दर्शनमोहनीय कर्म के 'दर्शन' शब्द का अर्थ श्रद्धा या मान्यता है।

दर्शनमोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ हैं—

(1) सम्यक्त्व मोहनीय—इस कर्मप्रकृति के उदय से जीव की वीतराग वाणी पर श्रद्धा में मलीनता आ जाती है। परन्तु तत्त्व की रुचि बनी रहती है। यह कर्मप्रकृति आत्मा को औपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होने देती। किन्तु क्षयोपशमिक सम्यक्त्व होता है। सूक्ष्म पदार्थों का विचार करने में शंका होती है, जिससे जीव के सम्यक्त्व में चल-मल-अगाढ़ दोष<sup>1</sup> लगते रहते हैं। संक्षेप में, इस कर्मप्रकृति का उदय सम्यक्त्व का घात नहीं करता, सिर्फ उसे मलिन बनाता रहता है।



1. तत्त्व के विषय में चलायमान होना चल दोष है। अल्प ज्ञान के कारण समकित में मलिनता रह जाती है, वह मल दोष है। यह मेरा शिष्य है, यह मेरे गुरु है इत्यादि भेद दृष्टि की क्षति होने से अगाढ़ दोष लगता है।



(2) **मिथ्यात्व मोहनीय**—दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेदों में से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। यह

आत्मा के दर्शन गुण का घात करता है। इसके उदय से जीव को सम्यक्श्रद्धा अथवा सम्यक्त्व नहीं हो पाता; यहाँ तक कि तत्त्वों की ओर रुचि भी नहीं होती। इसके प्रभाव से जीव को सच्चे देव, गुरु और धर्म के प्रति शंका बनी रहती है। जीव सर्वज्ञ वीतरागी देव द्वारा उपदेशित मार्ग पर न चलकर विपरीत मार्ग पर चलता है। कुदेव, कुधर्म और कुगुरु पर श्रद्धा रहती है। वह मिथ्यात्वी ही बना रहता है।



(3) **मिश्र मोहनीय**—इस कर्मप्रकृति के कारण जीव की मनःस्थिति दोलायमान रहती है। उसे न तत्त्व के प्रति रुचि या श्रद्धा होती है और न ही अतत्त्व के प्रति रुचि होती है। न वह सम्यक् श्रद्धा ही कर पाता है और न मिथ्यात्वी ही रहता है। वह शंकाशील ही बना रहता है। उसे जिनवाणी भी सत्य लगती है और अन्य वाणी भी सत्य लगती है। एक उदाहरण द्वारा इसे भली प्रकार से समझा जा सकता है। जैसे—एक व्यक्ति एक द्वीप में उत्पन्न हुआ, जहाँ नारियल के पेड़ों के सिवाय अन्य कोई खाने की वस्तु नहीं होती। उसे अन्न-धान्य के प्रति न रुचि होगी न अरुचि होगी। क्योंकि उसने उसके बारे में न कभी सुना और न कभी देखा है। इसी प्रकार उसे सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति न रुचि रहती है न अरुचि। वह किसी पर विश्वास भी नहीं करता और अविश्वास भी नहीं करता।





**चारित्रमोहनीय कर्म**—मोहनीय कर्म का दूसरा भेद चारित्रमोहनीय है। चारित्र का अर्थ आत्मा के अपने स्व स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करना है। कषाय विजयी जीव ही सच्चा चारित्र पालन कर सकता है। चारित्र दो प्रकार के होते हैं—सर्वविरति चारित्र और देशविरति चारित्र। चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा के चारित्र गुण का घात करता है। इसके प्रमुख रूप से दो भेद हैं—(1) कषायमोहनीय और (2) नोकषायमोहनीय।

(1) **कषायमोहनीय**—कषाय उसे कहते हैं जो आत्मा के शुभ स्वरूप को मलिन बनाता है। दूसरी अपेक्षा से 'कष' का अर्थ संसार है और 'आय' का अर्थ वृद्धि अर्थात् जिससे संसार परिभ्रमण की वृद्धि होती है, उसे कषाय कहते हैं।

कषाय के मूल भेद 4 हैं—(1) क्रोध, (2) मान, (3) माया और (4) लोभ। इनमें से प्रत्येक के तीव्रता और मंदता के आधार पर चार-चार भेद बताये गये हैं। यथा—**अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन**। इस प्रकार कषायमोहनीय के 16 भेद होते हैं।

इस कषायमोहनीय के 16 और नोकषायमोहनीय के 9—यों चारित्रमोहनीय के कुल 25 भेद अथवा उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं।

**कषायमोहनीय कर्म के भेद**—कषायमोहनीय कर्म के 16 भेद इस प्रकार हैं—

(क) **अनन्तानुबन्धी कषाय**—जो कषाय अनन्त संसार का अनुबंध कराने वाला है, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। इस कषाय के कारण जीव अनन्तकाल तक संसार परिभ्रमण करता है। यह जीव को स्वानुभूति तथा स्वसंवेदन नहीं होने देता। दूसरे शब्दों में यह जीव के सम्यक्त्व गुण का घात करता है। यह कषाय न केवल जीवनपर्वत बना रहता है, बल्कि जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। ऐसे कषाय भाव में काल करने वाला नरक गति को प्राप्त करता है।

- (1) **अनन्तानुबन्धी क्रोध**—सामान्यतः क्रोध आत्म-परिणामों के जलन का परिचायक है। अनन्तानुबन्धी क्रोध पर्वत की दरार के समान होता है। जिस प्रकार पर्वत की दरार का मिलना बहुत कठिन हो जाता है, उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध का उपशान्त होना भी बहुत कठिन होता है।
- (2) **अनन्तानुबन्धी मान**—इस प्रकार का मान पत्थर के खम्भे के समान होता है। जिस प्रकार पत्थर का खम्भा टूट जाता है, लेकिन नमता नहीं, उसी प्रकार यह मान भी विगलित नहीं होता।
- (3) **अनन्तानुबन्धी माया**—जिस प्रकार बाँस की वक्रता किसी भी उपाय से नहीं मिटती उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी माया (टेढ़ापन, वक्रता) किसी भी उपाय से सरलता में परिणत नहीं होती।
- (4) **अनन्तानुबन्धी लोभ**—जिस प्रकार वस्त्र पर लगा किरमिची रंग किसी भी उपाय से साफ नहीं होता उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी लोभ भी कितना ही प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं होता।



**(ख) अप्रत्याख्यानावरण कषाय**—यह कषाय जीव को थोड़ा-सा भी त्याग-प्रत्याख्यान नहीं करने देता। यह देशविरति चारित्र (अणुव्रत—श्रावक व्रत) का घातक है। सामान्यतः इसकी स्थिति एक वर्ष तक की है। यदि यह एक वर्ष से अधिक समय तक बनी रहे तो अनन्तानुबन्धी कषाय के रूप में परिणत हो जाता है और जीव के सम्यक्त्व गुण का घात कर देता है। इस कषाय के परिणामस्वरूप प्राणी कई भवों तक तिर्यच गति में भटकता रहता है।










- (5) **अप्रत्याख्यानावरण क्रोध**—जिस प्रकार तालाब सूख जाने पर मिट्टी में दरार पड़ जाती है और वह जल के संयोग से भर जाती है, उसी प्रकार अधिक परिश्रम से उपशान्त हो जाने वाला क्रोध अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कहलाता है।
- (6) **अप्रत्याख्यानावरण मान**—इस मान की उपमा हड्डी के स्तम्भ से दी जाती है। जिस प्रकार हड्डी का स्तम्भ अनेक ठपायों और परिश्रम से नम जाता है, उसी प्रकार यह अप्रत्याख्यानावरण मान भी विनम्रता में परिणत हो जाता है।
- (7) **अप्रत्याख्यानावरण माया**—इस प्रकार की माया को मेढ़े के सींग से उपमित किया जा सकता है। जैसे मेढ़े का सींग ठपायों द्वारा सीधा किया जा सकता है वैसे ही अप्रत्याख्यानावरण माया को भी ठपायों से सरलता में परिवर्तित किया जा सकता है।
- (8) **अप्रत्याख्यानावरण लोभ**—यह वस्त्र पर लगे कीचड़ के समान होता है। जैसे कीचड़ का दाग परिश्रम से साफ हो जाता है, उसी प्रकार यह लोभ भी कड़े प्रयास करके दूर किया जा सकता है।

**(ग) प्रत्याख्यानावरण कषाय**—यह कषाय सर्वविरति चारित्र (महाव्रत रूप साधु धर्म) को प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करता है। अर्थात् यह कषाय भाव वाला मनुष्य संयम स्वीकार नहीं कर सकता। इस कषाय के प्रभाव से मनुष्य गति की प्राप्ति होती है। इसकी स्थिति 4 मास की है।

- (9) **प्रत्याख्यानावरण क्रोध**—इस प्रकार के क्रोध की उपमा बालू में खींची गई लकीर से दी जाती है। जिस प्रकार बालू में बनी लकीर मात्र वायु के संयोग से भर जाती है उसी प्रकार यह क्रोध भी अल्प प्रयास से उपशान्त हो जाता है।
- (10) **प्रत्याख्यानावरण मान**—जिस प्रकार काष्ठ (लकड़ी) का खम्भा तेल, पानी आदि से शीघ्र ही नम जाता है, उसी प्रकार यह मान भी शीघ्र ही दूर हो जाता है।
- (11) **प्रत्याख्यानावरण माया**—जिस प्रकार चलते बैल की मूत्र की टेढ़ी लकीर थोड़ी ही देर में अपने आप सूखकर मिट जाती है, उसी प्रकार प्रत्याख्यानावरणीय माया भी शीघ्र सरलता में परिवर्तित हो जाती है।
- (12) **प्रत्याख्यानावरण लोभ**—जिस प्रकार खंजन-गाड़ी के पहिए का कीटा सरलता से साफ हो जाता है उसी प्रकार यह लोभ भी सरलता से उपशान्त हो जाता है।



# कषाय-स्वरूप और परिणाम

क्रोध	मान	माया	लोभ	गति
<p>1. अतनानुवन्धी लोभ</p> 	<p>1. अतनानुवन्धी पाया</p> 	<p>1. अतनानुवन्धी पाया</p>  <p>धातु की धार</p>	<p>1. अतनानुवन्धी लोभ</p> <p>कुमिदाग</p> 	<p>नरक गति</p> 
<p>2. अपत्याध्यानी लोभ</p> 	<p>2. अपत्याध्यानी पाया</p> 	<p>2. अपत्याध्यानी पाया</p> <p>भेड़े का सींग</p> 	<p>2. अपत्याध्यानी लोभ</p> <p>कीचड़ का दाग</p> 	<p>तिर्यच गति</p> 
<p>3. प्रत्याध्यानी लोभ</p> <p>बालू रेखा के सम्मान</p> 	<p>3. प्रत्याध्यानी पाया</p> <p>काष्ठ स्तंभ</p> 	<p>3. प्रत्याध्यानी पाया</p> <p>गोमूत्र की धार</p> 	<p>3. प्रत्याध्यानी लोभ</p> <p>खलनसम</p> 	<p>मनुष्य गति</p> 
<p>4. मन्वलय लोभ</p> <p>जल को शिला बनाई यह लकीर के सम्मान</p> 	<p>4. मन्वलय पाया</p> <p>निरालय स्तंभ</p> 	<p>4. मन्वलय पाया</p> <p>लकड़ी को छिलके</p> 	<p>4. मन्वलय लोभ</p> <p>हल्दी का दाग</p> 	<p>देव गति</p> 



(घ) **संज्वलन कषाय**—संज्वलन कषाय साधु को दसवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ने देता, यथाख्यात चारित्र को आवृत्त करता है। उपसर्ग-परीषह आने पर यह कषाय साधु के चित्त-समाधि और शांति में थोड़ी-सी उद्विग्नता पैदा कर देता है। इस कषाय की स्थिति 15 दिन है। इस कषाय के वशीभूत हुआ जीव काल करके देवगति को प्राप्त करता है।

(13) **संज्वलन क्रोध**—जैसे पानी को हिलाकर बनाई गई लकीर तत्काल स्वयं ही मिट जाती है, इसी प्रकार यह क्रोध भी शीघ्र ही स्वयंमेव उपशान्त हो जाता है।

(14) **संज्वलन मान**—जैसे लता स्वयं ही झुक जाती है; इसी प्रकार यह मान भी स्वयं ही विगलित हो जाता है।

(15) **संज्वलन माया**—यह माया अपने आप ही मिट जाती है जैसे बाँस के छिलकों का टेढ़ापन अपने आप ही समाप्त हो जाता है।

(16) **संज्वलन लोभ**—यह लोभ भी शीघ्र ही थोड़े से प्रयास करने से अपने आप मिट जाता है। जिस प्रकार कपड़े पर से हल्दी का दाग अल्प प्रयास से ही दूर हो जाता है।

(2) **नोकषाय मोहनीय कर्म**—नोकषाय दिखने में छोटे होते हैं पर अधिक दुष्प्रभावी हैं। ये प्रधान कषायों के साथ उत्पन्न होते हैं तथा उन्हें उत्तेजित करते हैं। ये मानसिक विकार हैं। इनके नौ (9) भेद हैं।

(1) **हास्य-मोहनीय**—जिस कर्म के उदय से जीव अकारण या सकारण हैसता है अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति को याद करके हैसता है, उसे हास्य-मोहनीय कर्म कहते हैं। भांड आदि जैसी चेष्टा भी इसी के अन्तर्गत परिगणित है।

(2) **रति मोहनीय**—जिस कर्म के उदय से जीव को संसार में और पाप कार्य करने में आनन्द, उमंग और उत्साह का अनुभव होता है, उसे रति मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके उदय से जीव असंयम में सुख मानता है।

(3) **अरति मोहनीय**—जिस कर्म के उदय से जीव को धर्म के कार्य में विषाद, आलस्य और निरुत्साह आता है, उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं।

(4) **भय मोहनीय**—इस कर्म के उदय से जीव को भय उत्पन्न होता है।

**भय के कारण**—भय के चार कारण हैं—(1) भय वेदनीय के उदय से, (2) स्वयं शक्तिहीन होने से, (3) भय की बात सुनने से अथवा भयानक दृश्य देखने से, (4) इहलोक आदि भय के कारणों को याद करने से।

(5) **शोक मोहनीय**—जिस कर्म के उदय से इष्टवियोग-अनिष्ट संयोग के कारण चिन्ता अथवा शोक उत्पन्न होता है, प्राणी संतप्त होता है, उसे शोक मोहनीय कहते हैं।

(6) **जुगुप्सा मोहनीय**—किसी सचित्त-अचित्त पदार्थ को देखकर हृदय में घृणा उत्पन्न होना, इस कर्म का कार्य है।



हास्य-मोहनीय



रति मोहनीय  
पाप कार्य की  
इच्छा होना।



चलो सापायिक  
के लिये चलें



नहीं! मुझे धर्म  
अवकाश नहीं लगता।

अरति मोहनीय

अभी तक बेटा स्कूल से  
क्यों नहीं आया? कहीं उसे  
कुछ हो तो नहीं गया?



शोक-मोहनीय



भय मोहनीय

हे भगवान्! ये  
लोग मुझे लूट  
तो नहीं लेंगे?

जुगुप्सा मोहनीय

ओह कितना  
गन्दा है? कितनी  
बदबू आ रही है!



स्त्रीवेद

कितना सुन्दर है?  
काश मेरा बाँध  
फ्रेंड होता?



वाह कितनी सुन्दर  
लड़की है। मैं इसी  
से शादी करूँगा

पुरुषवेद



चतुर्वेद



- (7) **स्त्रीवेद**—पुरुष के साथ काम-भोग करने की इच्छा अथवा काम-विकार स्त्रीवेद है। यह कामाग्नि छाने (उपले-कण्डे) के समान है जो अन्दर-अन्दर ही सुलगती रहती है।
- (8) **पुरुषवेद**—स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा। यह तृण-अग्नि के समान है जो शीघ्र ही जल उठती है और तुरन्त ही बुझ जाती है।
- (9) **नपुंसकवेद**—स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग-भोगने की इच्छा। यह नगरदाह की अग्नि के समान है। जिस प्रकार नगर की अग्नि शीघ्र नहीं बुझती, उसी प्रकार नपुंसकवेदी की कामाग्नि भी शीघ्र शान्त नहीं होती, बहुत समय तक रहती है।

### मोहनीय के बन्ध के कारण—

(1) तीव्र क्रोध से, (2) तीव्र मान से, (3) तीव्र माया से, (4) तीव्र लोभ से, (5) तीव्र दर्शनमोहनीय से, (6) तीव्र चारित्रमोहनीय से।

इसके अलावा **दर्शनमोहनीय के बन्ध के निम्नलिखित पाँच कारण** स्थानांग सूत्र में दिये गये हैं।

- (1) अर्हन्त का अवर्णवाद करने से (जो दोष न हों उन्हें बताकर निन्दा करना)।
- (2) अर्हन्तप्रणीत श्रुत का अवर्णवाद करने से।
- (3) आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद करने से।
- (4) अर्हत्प्ररूपित चतुर्विध धर्म का अवर्णवाद करने से।
- (5) परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य के धारक देवों का अवर्णवाद करने से।

**फलभोग**—मोहनीयकर्म का वेदन मूलतः पाँच प्रकार से होता है—(1) सम्यक्त्व मोहनीय, (2) मिथ्यात्व मोहनीय, (3) मिश्र मोहनीय, (4) कषाय मोहनीय, और (5) नोकषाय मोहनीय। मोहनीय कर्म की जो 28 प्रकृतियाँ हैं उनका फल उसी रूप में भोगा जाता है। फल भोगते समय यदि समभाव नहीं रखते हैं तो नवीन कर्मों का बंध करते हैं। अतः मोहनीय कर्म का क्षयोपशम करना श्रेयस्कर है।

### मोहनीय कर्म के निवारण के उपाय :

1. क्रोध को क्षमा से, मान को विनय से, माया को सरलता से एवं लोभ को संतोष से जीतें।
2. पाँचों इन्द्रियों के विकारों पर नियंत्रण रखते हुए आत्म-रमणता में संलग्न रहें।

**मोहनीय कर्म की स्थिति और अबाधाकाल**—इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागरोपम की है और अबाधाकाल सात हजार वर्ष है।

इनके अतिरिक्त भगवती सूत्र में महामोहनीय कर्म बाँधने के 30 कारण बताये गये हैं।



## साध्वी सुकुमालिका की कथा (मोहनीय कर्म का बंध)

चम्पानगरी में सागरदत्त नाम का सार्थवाह अपनी भार्या भद्रा के साथ रहता था। उनके सुकुमालिका नाम की गज-तालु के समान अत्यन्त सुकोमल और सुकुमारी पुत्री थी।

एक दिन सुकुमालिका अपने भवन की छत पर सखियों के संग खेल रही थी। उसी समय वहाँ से गुजरते नगर के एक अन्य सार्थवाह जिनदत्त की नजर सुकुमालिका पर पड़ गई। सुकुमालिका के रूप-लावण्य को देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। वह सागरदत्त श्रेष्ठी के पास आया और उससे अपने पुत्र सागर के लिए सुकुमालिका का हाथ माँगा। सागरदत्त ने कहा कि वह अपनी पुत्री का विवाह तभी करेगा जब सागर उसका घर जँवाई बन जाये। जिनदत्त ने उसकी यह शर्त स्वीकार कर ली।

शुभ मुहूर्त्त में सागर और सुकुमालिका का विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के पश्चात् सागर सुकुमालिका के साथ शयनागार में पहुँचा। मधुर मिलन की उस प्रथम रात्रि के समय सागर ने जैसे ही सुकुमालिका का हाथ स्पर्श किया, उसका स्पर्श उसे बिजली की तरंगों के झटके के समान लगा। इस अमनोज्ञ, अप्रिव स्पर्श से वह इतना घबराया कि आधी रात में ही सुकुमालिका को त्यागकर अपने घर भाग आया।

घर आकर सागर ने अपने पिता जिनदत्त को सारी बात बताई। उसकी सारी बातें जिनदत्त से मिलने आये सागरदत्त ने दीवार के पीछे खड़े होकर सुन ली। इससे सागरदत्त बहुत दुःखी हुए और चुपचाप वापस अपने घर आ गए। उसने अपनी पुत्री को बुलाकर कहा—“बेटी! सागर तुझे छोड़ गया तो क्या हुआ, मैं शीघ्र ही तेरी शादी अन्य सुयोग्य व्यक्ति से करा दूँगा।”

कुछ काल व्यतीत होने के बाद एक दिन सागरदत्त ने अपने भवन की छत से राजमार्ग पर एक भिखारी को भीख माँगते देखा। कुछ देर सोच-विचारकर सागरदत्त ने भिखारी को लालच देकर घर के भीतर बुलाया फिर स्नानादि कराकर नए वस्त्रादि आभूषणों से सुसज्जित कर सुकुमालिका के सामने उपस्थित किया। फिर उसने भिखारी से कहा—“वह मेरी बेटी है। क्या तुम इससे विवाह करोगे?” भिखारी ने विवाह के लिए हाँ कर दी। शुभ मुहूर्त्त में विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह के पश्चात् शयनागार में भिखारी ने जैसे ही सुकुमालिका के शरीर को स्पर्श किया, उसे बिजली के झटके जैसा स्पर्श अनुभव हुआ। वह भी वहाँ से भाग निकला।

सुकुमालिका रोती-रोती अपने पिता के पास आई और सारी बात बताई। सागरदत्त ने पुत्री को सांत्वना दी और धर्मध्यान में मन लगाने को कहा।





अब सुकुमालिका पिता के निर्देशानुसार दानशाला में आकर याचकों को आहारदान देने लगी। एक दिन आर्या गोपालिका नामक श्रमणी विहार करते हुए अपने समुदाय के साथ चम्पानगरी पधारी। उनका एक संघाड़ा भिक्षा के लिए सागरदत्त की दानशाला में पहुँचा। सुकुमालिका ने प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथों से उनको आहार-पानी बहराकर प्रतिलाभित किया। इसके बाद सुकुमालिका ने आर्या गोपालिका को अपने जीवन की दुःखद स्थिति बताई। आर्या गोपालिका ने सुकुमालिका को धर्मदेशना देते हुए कहा कि संसार का पथ समस्त दुःखों का मूल कारण है और संयम का पथ शाश्वत् सुखों का राजमार्ग है। आर्या के मुख से जिनवाणों की अमृतधारा का रसपान कर उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिए।

कालान्तर में सुकुमालिका को संसार से अरुचि हुई और उसने आर्या गोपालिका से संयम व्रत स्वीकार कर लिया। दीक्षा लेने के बाद उसने अपनी गुरुवर्या से चम्पानगरी के बाहर सुभूमिभाग उद्यान में निरन्तर बेले का तप करते हुए सूर्य के सन्मुख आतापना लेने की आज्ञा माँगी जिसे आर्या गोपालिका ने मना किया। परन्तु गुरुणी जी की आज्ञा की अवहेलना



करके आर्या सुकुमालिका उसी सुभूमिभाग उद्यान में बेले का तपश्चरण करते हुए सूर्याभिमुख आतापना लेने लगी।

एक बार चम्पानगरी की अत्यन्त रूपवती गणिका देवदत्ता पाँच नवयुवकों के साथ सुभूमिभाग उद्यान में आयी और उनके साथ कामक्रीड़ा करने लगी। उसी समय आतापना लेती हुई सुकुमालिका आर्या की नजर कामक्रीड़ा में रत उन पाँच पुरुषों और देवदत्ता गणिका पर पड़ गई। उसका मन अधीर हो उठा। तब उसके मन में भोग के लिए इस प्रकार संकल्प उत्पन्न हुआ कि यदि मैंने इस भव में कुछ भी तप-नियम का पालन किया हो तो अगले जन्म में इसके फलस्वरूप मैं इस स्त्री को भीति पाँच पुरुषों के साथ कामभोगों का सेवन करने वाली बनूँ। आर्या सुकुमालिका द्वारा किए गए इस निदान से उसके द्वारा जीवन भर में की गई सारी तप साधना मिट्टी में मिल गई।

कुछ वर्षों बाद आर्या सुकुमालिका ने आगम एवं समाचारी के विरुद्ध जाकर एकाकी विचरण करना प्रारम्भ कर दिया जिससे वह संयम और चारित्र में शिथिल बन गई। अंत समय संयम शिथिलता की आलोचना एवं प्रतिक्रमण न करने से वह ईशान देवलोक में नौ पत्योपम की स्थिति वाली देव गणिका के रूप में उत्पन्न हुई। वहाँ से अपनी आयुष्य पूर्ण कर वह पांचाल नरेश द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुई।

कथासार—पूर्वभ्रम में चारित्र धर्म अंगीकार करने के बावजूद आर्या सुकुमालिका ने अपनी तपश्चर्या और संयम का निदान किया जिस कारण उसके मोहनोय कर्म का बंध हुआ। इसी कर्मबंध के फलस्वरूप वह अगले भव में द्रौपदी बनकर हस्तिनापुर नरेश पाण्डु के पाँच पुत्रों की पत्नी बनी।



## (5) आयुष्य कर्म

आत्मा का पाँचवाँ गुण अक्षय स्थिति है। अर्थात् आत्मा अपने स्थान से कभी च्युत नहीं होता, किन्तु आयुष्य कर्म आत्मा को एक निश्चित समय तक अमुक स्थान पर रोक लेता है। फिर आत्मा वहाँ से दूसरे स्थान पर जाता है। वहाँ पर भी आयुष्य कर्म उसे नियत समय तक रोक लेता है। आयुष्य कर्म यह एक बेड़ी के समान है, जिससे जकड़ा जीवात्मा अपनी अक्षय स्थिति को नहीं पा सकता है। जब तक आयुष्य कर्म अवशेष रहता है, जीव चौदह रज्जुलोक में परिभ्रमण करता रहता है और मुक्ति को प्राप्त नहीं होता।

**जिज्ञासा**—कुछ मनुष्य शतायुष्य जीते हैं और कुछ मनुष्य छोटी उम्र में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। संसार के इस घटनाक्रम को देखकर मन में प्रश्न उठता है कि जीवन-मृत्यु देने वाला कौन है? क्या कोई ऐसा निर्णायक तत्व है जो मनुष्य की जीवन और मृत्यु को निश्चित करता है। कर्म सिद्धांत को समझने के बाद इस जिज्ञासा का समाधान अवश्य हो जाता है। आयुष्य कर्म के द्वारा ही जीवन-मृत्यु का निर्णय होता है। जब तक मनुष्य का आयुष्य कर्म रहता है, तब तक वह जीवित रहता है और इसके पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। आयुष्य कर्म यह निर्णय करता है कि किस गति में जीव कितना जीवन बितावेगा।



### अपने जीवन में आयुष्य कर्म कब और कैसे बँधता है?

मनुष्य तथा संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवों की आयुष्य का बंधन एक विशेष नियम के द्वारा होता है। वर्तमान जीवन में जितनी आयु है, उसे तीन भागों में बाँटने पर उसकी दो तिहाई आयु बीत जाने पर जो शेष भाग रह जाता है, उसमें अगले भव की आयु का बंध होता है। यदि उस समय आयुष्य कर्म का बंध न हो तो फिर उस बची हुई आयु को तीन हिस्सों में बाँटने पर दो तिहाई बीतने के पश्चात् अगले भव की आयुष्य का बंध होता है। इस तरह यदि फिर आयुष्य कर्म का बंध न हो तो घटते-घटते अन्तरमुहूर्त में आयुष्य कर्म का बंध अवश्य हो जाता है। उदाहरणार्थ 81 वर्ष की वर्तमान आयु वाला जीव 54, 72, 78 आदि वर्ष की आयु के अन्त में आगामी आयु का बंध करेगा।

देवताओं तथा नारकी की अगले भवों की आयुष्य वर्तमान भव के छह माह शेष रह जाने पर बँधती है। आयुष्य दो प्रकार की होती है—(1) **अनपवर्तनीय आयुष्य**—जितने काल की आयुष्य बँधी है, वह सम्पूर्ण भोगने के पश्चात् समाप्त हो अर्थात् जितने काल तक के लिए आयुष्य कर्म बँधा है उतने काल तक आयुष्य भोगी जाए, बीच में न टूटे। (2) **अपवर्तनीय आयुष्य**—जब बाह्य कारणों का निमित्त पाकर बँधा हुआ आयुष्य कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करने से पहले ही एक साथ भोग लिया जाता है तो उसे अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। इसमें आयु का भोग क्रमिक न होकर आकस्मिक रूप से होता है। देव, नारकी, असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य-तिर्यच (युगलिक) चरमशरीरी और 63 श्लाका पुरुषों की आयु तो



अनपवर्तनीय होती है; किन्तु शेष जीवों को आयु दोनों प्रकार की हो सकती है, अर्थात् बीच में टूट भी सकती है।

**उत्तरप्रकृतियाँ**—इसके मूलतः दो भेद हैं—**शुभ आयुष्य** और **अशुभ आयुष्य**। शुभ आयुष्य की दो और अशुभ आयुष्य की दो, इस प्रकार आयुष्य कर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ हैं—

(1) **नरक आयुष्य**—जिस कर्म के उदय से आत्मा को नरक गति में जीवन बिताना पड़ता है, उसे नरकायुष्य कर्म कहते हैं। इसमें प्रथम से सातवें नरक तक किसी भी एक नरक में आयुष्य बिताना पड़ सकता है। वह जीव वहाँ से भाग निकलने की बहुत इच्छा करता है, परन्तु आयुष्य कर्म के कारण वहाँ से भाग नहीं पाता। यह अशुभ आयुष्य कर्म है।

(2) **तिर्यच आयुष्य**—जिस कर्म के उदय से जीव को तिर्यच योनि में अपना भव व्यतीत करना पड़े वह तिर्यच आयु कर्म है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तो तिर्यच गति में ही होते हैं, पंचेन्द्रिय में देव, मनुष्य और नारकी को छोड़कर शेष तिर्यच-पंचेन्द्रिय होते हैं। यह अशुभ आयुष्य कर्म है।

(3) **मनुष्य आयुष्य**—जिस कर्म के उदय से मनुष्य गति में जन्म हो अथवा जिस कर्म के विपाक स्वरूप मनुष्य भव में जीवन बिताना पड़े, मनुष्य आयुष्य कर्म है। मनुष्यों के 303 प्रकार होते हैं। इन 303 प्रकारों में से किसी भी प्रकार से मनुष्य भव में उत्पन्न होना मनुष्य आयुष्य कर्म का कार्य है। यह शुभ आयुष्य कर्म है।

(4) **देवायुष्य**—आत्मा को निश्चित समय तक देवगति में रखने वाले आयुष्य कर्मों के पुद्गलों का बंध देवायुष्य कर्म है। देवों के 198 प्रकार कहे गये हैं। इनमें से किसी भी प्रकार से देवभव में उत्पन्न होना देवायुष्य का कार्य है। यह शुभ आयुष्य कर्म है।

**बन्ध के कारण**—इन चारों प्रकार की आयुष्यों के बन्ध के कारण आगमों और ग्रन्थों में बताए गए हैं—

(1) **नरकायुष्य बन्ध के कारण**—स्थानांग सूत्र में नरकायुष्य बंध के चार कारण बताये हैं—

1. **महारम्भ**—जो जीव महान आरम्भ में आसक्त रहता है, वह इस जन्म में अगले भव के लिए नरक गति के आयुष्य का बंध कर लेता है। चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के आरम्भ-समारंभ की क्रिया महारम्भ में आती है।

2. **महापरिग्रह**—वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा रखना। जैसे मम्मण सेठ ने संसारी पदार्थों पर अत्यन्त आसक्ति रखी। उसने हीरे-मोती जड़ित एक बैल तो बना लिया और वैसा ही दूसरा बैल बनाने के लिए वह कठोर श्रम कर रहा था। वह इस कार्य में अत्यन्त आसक्त था, अतः मरकर सातवीं नरक में गया। अत्यंत महत्वाकांक्षा रखना भी इसी श्रेणी में आता है।

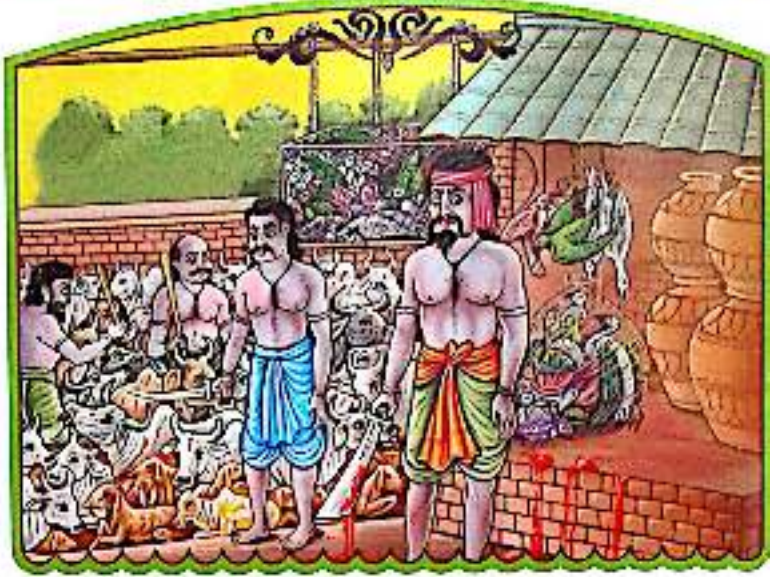
3. **पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना**—मनुष्य पशु-पक्षी आदि पंचेन्द्रिय जीवों का अत्यन्त कषाय योग पूर्वक मारने की भावना से वध करने वाला नरकायुष्य का बंध करता है। लड़ाई-झगड़ा, युद्ध, बन्दूक, तलवार आदि से जीवों का वध, कल्लखाना चलाना, गर्भपात करना-कराना, बन्दर-चूहे आदि प्राणियों पर वैज्ञानिक प्रयोग करना भी इसी श्रेणी में आता है।





4. **मद्य-माँस का सेवन**—माँसाहार यानि माँस, मछली, अंडों आदि का सेवन करना, मदिरापान करना आदि।

(2) **तिर्यच आयुष्य बन्ध के कारण**—स्थानांग सूत्र में इसके चार कारण बताये हैं—



1. **माया शल्य करना**—कपट और शल्य मन में रखना, नियम भंग होने पर भी आलोचना नहीं करना, किसी अन्य के नाम से आलोचना लेकर शल्य सहित आलोचना करना।

2. **निकृति**—गूढ़ माया करना, बाहर से सद्भाव दिखाना और भीतर से वैर भाव और आक्रोश रखना, धूर्तता या ठगी करना, ढोंग- पाखण्ड आदि इस श्रेणी में आते हैं।

3. **असत्य भाषण करना**—झूठ बोलना, क्रोध, भय और लोभ के कारण असत्य भाषण करना, धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर प्रचार करना आदि इस श्रेणी में आते हैं।

4. **झूठा तोल-माप करना**—झूठे तोल और झूठे माप करना, खरीदने के बाँटों को अलग रखना और बेचने के बाँटों को अलग रखना आदि।



(3) **मनुष्य आयुष्य बन्ध के कारण**—स्थानांग सूत्र में इसके चार कारण बताये हैं—

1. **प्रकृति भद्रता यानी सरल स्वभाव**—मन-वचन-काया की एकरूपता रखना सरलता है। हृदय में सरलता रखना मनुष्य आयु बंध का कारण है। दिखावट या बनावट न करना इसी श्रेणी में आते हैं।

2. **विनीत स्वभाव**—विनीत स्वभाव अथवा विनम्रता का अभिप्राय बड़ों, गुरुजनों, गुणीजनों के प्रति अहो भाव रखना, नम्र स्वभाव रखना, गुणों का गुणकीर्तन करना, उनकी अशक्तता न करना, आज्ञा का पालन करना, उनकी सेवा-वैयावृत्य आदि करने वाला विनीत स्वभावो कहलाती है और मनुष्य आयु का बंध करता है।





3. **दयाशीलता**—दूसरों के दुःख से दुःखी होना, अनुकम्पा रखना, दुःखी-रोगी जीवों पर करुणा करना, दूसरों के कष्टों को दूर करने का भाव मन में रखना मनुष्य भव बंध का कारण है।

4. **ईर्ष्या रहित होना**—ईर्ष्या का अर्थ एक प्रकार की जलन है जो दूसरे के सुखों को देखकर मन में उत्पन्न होती है। मन में अमत्सरता का भाव रखना, अहंकार न करना, किसी की मदद करके गुणगान न करना, तुच्छ वृत्ति न रखना ईर्ष्या भाव से रहित होने की निशानी है।

(4) **देवायुष्य बन्ध के कारण**—स्थानांग सूत्र और तत्त्वार्थ सूत्र में देवायुष्य बंध के चार कारण बताये हैं—

1. **संयम का सराग (राग सहित) पालन**— जब चारित्र ग्रहण कर लेने पर भी राग और कषाय का अंश शेष रह जाता है तो वह शुद्ध संयम नहीं कहलाता उसे सराग संयम कहते हैं। पाँच समिति तीन गुप्ति का पालन करने वाला वीतरागो साधु आयुष्य कर्म का बंध नहीं करता है। परन्तु राग सहित संयम पालने वाला देवायुष्य का बंध करता है।



2. **संयमासंयम**— इसका अर्थ है कुछ संयम और कुछ असंयम। इसे देशविरति चारित्र कहते हैं। श्रावक

के व्रत में स्थूल रूप से हिंसा, झूठ, चोरी आदि का प्रत्याख्यान होता है किन्तु सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की आरम्भजा हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं होता। ऐसे संयमासंयम का पालन करने वाला गृहस्थ भी देवायु का बंध करता है।

3. **अकाम निर्जरा**— अनिच्छा से या दबाव से, भय से या पराधीनता से, लोभवश या मजबूरी से भूख आदि के कष्ट को सहन करना अकाम निर्जरा है। मिथ्यात्वों जीवों की, अज्ञानी जीवों की निर्जरा अकाम निर्जरा कहलाती है। अकाम निर्जरा करने वाला जीव भी देवायु का बंध करता है।

4. **बाल तप**— इसका अर्थ है अज्ञान युक्त तप या सम्यक्त्व से रहित तप। जिस तप में आत्मशुद्धि का लक्ष्य न होकर अन्य कोई भौतिक या लौकिक लक्ष्य हो उसे बाल तप कहते हैं। जैसे बर्फ पर सोने वाला, उल्टा लटककर पंचाग्नि तप करने वाला, समाधि लेने वाला, महीनों तक वह तप करता है, यह शुभ योग होता है परन्तु उसे सम्यक्दर्शन नहीं होता इसलिए वह देवायु का बंध करता है।



देशविरति चारित्र ग्रहण किया हुआ श्रावक देवायु का बन्ध करता है।



अत्यायुष्य बंध के तीन कारण हैं—(1) प्राणियों की हिंसा करना, (2) झूठ बोलना, (3) तथारूप श्रमण यानि शुद्ध साधु को अप्रासुक (सचित्त) अकल्पनीय (दोषयुक्त) अशन, पान, खादिम, स्वादिम—ऐसा चार प्रकार का आहार देना। सबसे अल्पायु 256 आवलिका की होती है। यह निगोद के जीवों की होती है। वे एक मुहूर्त्त (48 मिनट) में 65536 बार जन्म-मरण कर लेते हैं। उनका दुःख नरक से भी अधिक माना जाता है।

**दीर्घायुष्य**—दीर्घायुष्य दो प्रकार की होती है—(1) शुभ और (2) अशुभ।

**अशुभ दीर्घायुष्य बंध के कारण**—तीन कारणों से जीव अशुभ दीर्घायुष्य का बन्ध करता है—(1) तीव्र कषायपूर्वक जीव हिंसा करना, (2) तीव्र कषायपूर्वक असत्य बोलना, (3) शुद्ध साधु की निन्दा, हिंसा, अपमान आदि करना; उन्हें द्वेष-बुद्धि से अमनोज्ञ-दुःखकारी आहार देना।

अशुभ दीर्घायुष्य उत्कृष्ट 33 सागर की होती है, जो सातवीं नरक में भोगी जाती है।

**शुभ दीर्घायुष्य बंध के कारण**—(1) जीवहिंसा का त्याग करना, (2) असत्य बोलने का त्याग करना, (3) शुद्ध साधुओं को वन्दन-नमस्कार, सम्मान आदि देना।

शुभ दीर्घायुष्य उत्कृष्ट 33 सागर की होती है जो सर्वार्थसिद्ध विमान में भोगी जाती है।

**आयुबंध का अभिप्राय**—आगामी भव में उत्पन्न होने के लिए गति, जाति, स्थिति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाग—इन छह को बाँधना आयुबन्ध कहलाता है। इनके साथ आयु कर्म के पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ जाता है।

कर्मशास्त्र की भाषा में इन्हें (1) जातिनाम निधत्तायु, (2) गतिनाम निधत्तायु, (3) स्थितिनाम निधत्तायु, (4) अवगाहननाम निधत्तायु, (5) प्रदेशनाम निधत्तायु और (6) अनुभागनाम निधत्तायु कहते हैं।

**फलभोग**—आयुष्य कर्म का भोग चार प्रकार से होता है—(1) नरक में नारकी के रूप में आयुष्य बिताना, (2) तिर्यच रूप में आयुष्य बिताना, (3) मनुष्य रूप में आयुष्य बिताना, (4) देव रूप में आयुष्य बिताना।

इन चार प्रकार की गतियों में जन्म लेना तथा उनमें अवस्थित रहना, यह आयुष्य कर्म का फलभोग है।

**विशेषता**—आयुष्य कर्म की विशेषता यह है कि इसका उदय जन्म लेने के क्षण से ही शुरू हो जाता है और प्रति समय भोगा जाता है।

**अशुभ आयुष्य कर्म बंध के निवारण के उपाय :**

1. पर्व तिथियों (द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी) में आयुष्य बंध की संभावना सर्वाधिक रहती है। अतएव इन दिनों में ज्यादा से ज्यादा धर्माश्रयना करते हुए पाप की प्रवृत्तियों से बचते रहना चाहिए जिससे शुभ आयुष्य का बंध हो और अशुभ आयुष्य बंध टल जाए।

**आयुष्य कर्म की स्थिति और अबाधाकाल**—इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम तथा अबाधाकाल नहीं है।



## जीर्ण सेठ की कथा (देवायुष्य का बंध)



वैशाली नगर में निवास करने वाले सुश्रद्धा सम्पन्न श्रावक जिनदत्त दृढ़धर्मी था। पूर्व अशुभ कर्मोदय के कारण किसी निमित्त से धन हानि हो गयी थी। उसका वैभव बिखर गया। वह आर्थिक असन्तुलन में आ गया था। वह जिनदत्त जानता था कि पूर्वकृत अशुभ कर्मोदय के कारण ही मेरी सम्पन्नता विपन्नता में बदल गई है। इस विपन्नता का जिनदत्त के चिन्तन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा वह तो हर परिस्थिति को स्वयं के लिए वरदान स्वरूप मानता था।

धन सम्पत्ति वैभव के अभाव में उसकी विशाल हवेली जगह-जगह क्षतिग्रस्त हो गई थी। आर्थिक तंगी के कारण उसे सुधरवा नहीं पाया। वह हवेली धीरे-धीरे पुरानी होती गई। जीर्ण हो जाने के कारण आने जाने वाले राहगीर उसे देखकर कहते कि जीर्ण हवेली है। धीरे-धीरे उस जिनदत्त का नाम जीर्ण सेठ के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

वह श्रावक आर्थिक दृष्टि से भले जीर्ण हो गया पर प्रभु महावीर के प्रति दृढ़ श्रद्धाशील था। प्रभु के छद्मस्थ काल का ग्यारहवां चातुर्मास वैशाली में था। प्रभु वैशाली के बाहर उद्यान में चातुर्मासिक तप ग्रहण करके ध्यान में अवस्थित थे।

प्राति वश नित्य प्रभु के दर्शन हेतु उद्यान में जाता था। वह निमित्त शास्त्र में निष्णात था प्रभु के कर एवं चरण रेखाओं पर अनुसन्धान करता रहता था। जीर्ण सेठ मन ही मन प्रभु के आहार के लिए भावना भाता रहता था कि वह दिन धन्य होगा जब प्रभु मेरे हाथों से मेरे घर में आहार ग्रहण करें। चार माह तक वह नित्य भावना भाता रहा। चौमासी तप पूर्ण होने पर प्रभु वैशाली में अभिग्रहपूर्वक आहार हेतु विचरण करने लगे। इस बात की जानकारी जीर्ण सेठ को भी हो गई। वह अपने घर द्वार पर अंजलीबद्ध होकर चारों ओर निहारने लगा। आहार दान देने के लिए तीव्र भावना भाने लगा।

प्रभु अभिग्रह की गवेषणा करते हुए 'पूर्ण' श्रेष्ठी के द्वार पर पहुँच गए। उसने प्रभु को उपेक्षा से देखा। वह नया धनवान था अतः लोग उसे अभिनव के नाम से संबोधन करते थे। यद्यपि उसका नाम पूर्ण श्रेष्ठी था। धन के अहं के कारण प्रभु की महत्ता नहीं समझते हुए सोचा कोई भिक्षुक होगा। अपने आसन पर बैठे-बैठे ही दासी को आदेश दिया कि "हमारे घर के द्वार पर कोई भिखारी आया है कुडच्छी (लोहे का बड़ा चमचा) भर कर कुलस्थ दे दो"। दासी ने कुडच्छी भर कर कुलस्थ के बाकुले दे दिए।

प्रभु ने चौमासी तप का पारणा किया। पंच दिव्य प्रकट हुए 'अहो दानम्-2' की देवता के द्वारा दिव्य ध्वनि हुई। समस्त वैशाली में प्रसन्नता की लहर फैल गई। दिव्य ध्वनि की घोषणा जीर्ण सेठ के कानों में पड़ी। 'अहो! प्रभु का पारणा हो गया मैं उत्तम सुपात्र दान से वंचित रह गया। धन्य है वह पुण्यात्मा जिसे यह लाभ मिला। आहार दान की उत्कृष्ट भावना भाने से उस जीर्ण सेठ ने बारहवें देवलोक का आयुष्य बान्धा।

भावना का इतना महत्त्व है कि जीर्ण सेठ के इतने शुभ अध्यवसाय बढ़ गए कि सात लव तक देव दुंदुभि नहीं सुनता तो उसको केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हो जाता।



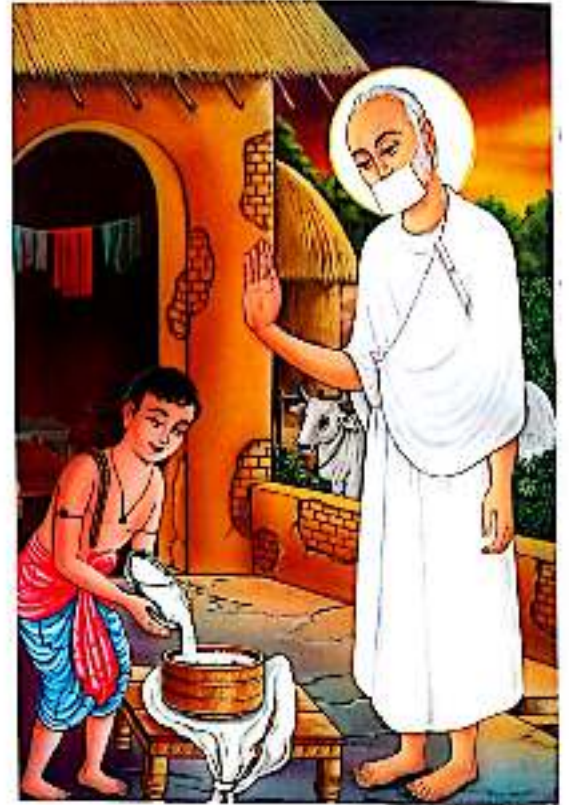


## संगम ग्वाला की कथा (मनुष्यायुष्य का बंध)

मगध राज्य की राजधानी राजगृही नगरी के निकट 'शालि' नाम का एक छोटा-सा गाँव था। वहाँ धन्या नाम की ग्वालिन अपने पुत्र संगम के साथ रहती थी। धन्या बहुत गरीब थी जिस कारण वह सेठ-साहूकारों के घर में झाड़ू-बर्तन का, पानी भरने का काम करके अपना व अपने पुत्र संगम का भरण-पोषण किया करती थी। संगम भी सेठ-साहूकारों की गायें चराने का काम किया करता था।

एक दिन किसी त्यौहार के अवसर पर गाँव के घर-घर में खीर बनी थी। संगम जंगल से गायें चराकर वापस गाँव आया तब उसकी नजर पड़ोस के लड़कों पर पड़ गई जो खीर खा रहे थे। उन लड़कों को खीर खाते देख संगम के मुँह में पानी आ गया। घर आकर उसने अपनी माता से खीर बनाने को कहा। परन्तु घर की आर्थिक स्थिति ठीक न होने से माता धन्या ने खीर बनाने से इन्कार कर दिया। परन्तु संगम खीर बनाने के लिए बार-बार जिद्द करने लगा। अपने पुत्र की इच्छा पूरी न कर पाने की वजह से माता फूट-फूटकर रोने लगी। उसके रोने की आवाज सुनकर आसपास के लोग धन्या के पास आए और उसके रोने का कारण पूछा। तब धन्या ने अपने पुत्र की इच्छा पूर्ण न कर पाने के बारे में बताया। पड़ोसियों को धन्या पर दया आ गई। उन्होंने मिलकर धन्या को खीर बनाने का सामान दे दिया। धन्या ने प्रसन्न होकर संगम के लिए खीर बनाई और उस गरमागरम खीर को थाली में ठंडा करने के लिए रखकर स्वयं पनघट पर पानी भरने चली गई। उसी समय एक मास के उपवास का पारणा करने के लिए एक तपस्वी जैन साधु संगम के घर गोचरी के लिए पधारे। मुनि को देखते ही संगम के हृदय में उन्हें खीर बहराने की भावना उत्पन्न हो गई। बालक संगम ने सरल स्वभाव से थाली के बीच से अंगुली से एक रेखा खींच दी और सोचा कि आधी खीर मुनिराज को बहराऊँगा और आधी बचेगी तो मैं स्वयं खा लूँगा। परन्तु हर्षातिरेक से बालक संगम ने खीर से भरी थाली मुनिराज के पातरे में उल्टा दी। सारी खीर फिसलकर मुनि के पात्रे में चली गई। खीर मुनिराज को बहराने के बाद बालक संगम के मन में बिलकुल भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि वह अपने आपको भाग्यशाली मानने लगा और हर्षित हो गया। थोड़ी देर बाद माँ धन्या वापस आई और पतीली में बची खीर संगम को खाने को दे दी। संगम ने बड़े ही आनन्द के साथ खीर खाई।

उसी रात संगम के पेट में तीव्र दर्द उठा और उसे अजीर्ण हो गया। कुछ ही समय बाद संगम की मृत्यु हो गई। मुनिराज को प्रासुक आहार बहराने के शुभकर्म के फलस्वरूप संगम ने अत्यंत शुभ मनुष्य आयुष्य कर्म का बंध किया और अगले जन्म में राजगृही नगरी में गोभद्र सेठ व भद्रा सेठानी के पुत्र शालीभद्र के रूप में जन्म लिया।





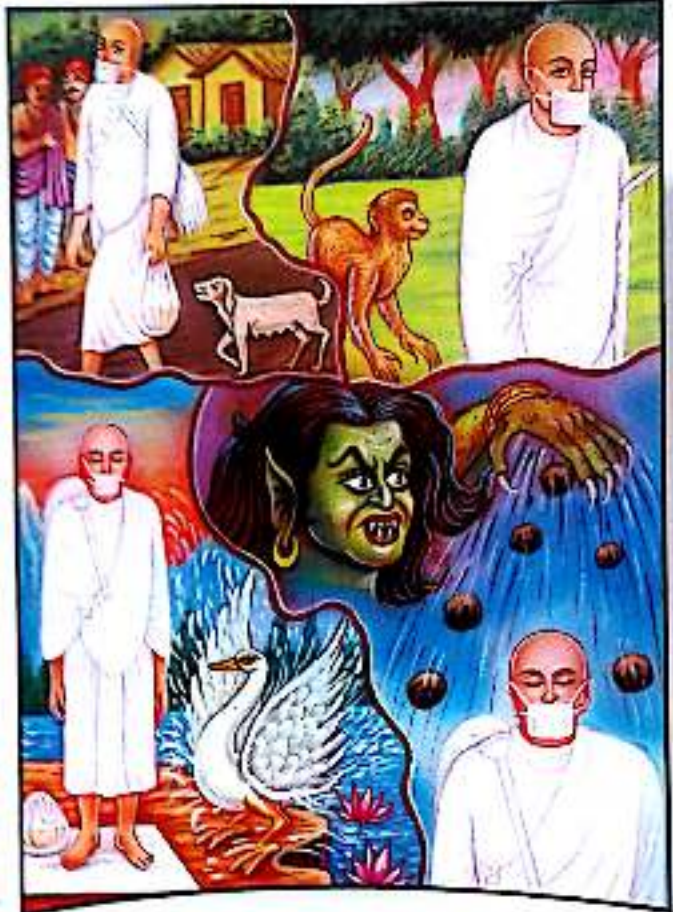
## शिवभूति और वसुभूति (तिर्यच आयुष्य का बंध)

एक बार वे शिवभूति और वसुभूति नाम के दो भाई रहते थे। बड़े भाई शिवभूति की पत्नी कमलश्री अपने देवर वसुभूति के साथ मिलकर रहे। एक बार उसने वसुभूति के समक्ष कामचेष्टा करके अनुचित प्रार्थना की। भाभी की कामचेष्टा देखकर वसुभूति को तंत्रकार से भिक्षा हो गई। उसने गुरु चरणों में जाकर संयम अंगीकार कर लिया।

एक समय वसुभूति ने कामवासना से मन को कामसौंदर्य रहने और आर्तध्यान करने लगी। कुछ समय बाद वह बीमार हो गई। शिव के साथ रहने वाले कामवासना की मनसिक-वर्षिक आलोचना न करने के कारण कमलश्री ने तिर्यच आयुष्य कर्म की और मरकर कुतिया बनी।

एक बार उसी रात में वसुभूति मुनि मरने के भिक्षावरो के लिए आ रहे थे कि कुतिया बनी हुई कमलश्री मुनि की रोक रूकसवयव अमरणा के तंत्रकारी के वश मुनिश्री के मक्ष मक्ष करने लगी। वह देख जनता मुनिश्री को कुतिया (कुतिया के पति) कहने लगी।

मुनि ने कुतिया का यह रविया देखा तो एक दिन वे नजर बचाकर अग्रज मरने गये। कुतिया ने मुनिश्री को नहीं देखा तो उनके लिए भेजे हुए आर्तध्यान वश मरकर वानरी बनी। एक दिन मुनिश्री को देखा तो वह उनके पीछे-पीछे बचने लगी और कामचेष्टा करने लगी। सब लोग मुनिश्री को कामसौंदर्य कहने लगे। मुनिश्री ने फिर नजर बचाकर शरीर से अग्रज विहार किया। कामसौंदर्य कमलश्री वानरी आर्तध्यान से मरकर हंसनी बनी। एक बार वसुभूति मुनि ललाब के किनारे कावोत्सर्ग में खड़े थे। हंसनी आ-आकर पूर्वभव के कामोन्मादवश उन पर पानी छीटने, विरह वेदना व्यक्त करने तथा वैदिक वेष्टा करने लगी। मुनि वहाँ से तुरन्त अन्यत्र विहार कर गए। हंसनी आर्तध्यान से विलाप करके मर गई और वानसी हुई। उसने अपने ज्ञान से वसुभूति मुनि और अपना पूर्व सम्बन्ध जाना और क्रोध में आगबबूला होकर मर गई मर निश्चय किया - 'वसुभूति ने मुझे ठुकरा-ठुकराकर दुःखो किया, अब मैं मजा चखाऊँगी।' यों निश्चय करके मुनिश्री वहाँ शयन में खड़े थे, वहाँ आई, भयंकर उपसर्ग दिए, अनुकूल भी और प्रतिकूल भी। परन्तु मुनि मेरु की तरह तन्मय एवं क्षमाभाव में अडोल रहे। शीघ्र ही क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर चार घातिकर्मों का क्षय किया और अक्षयज्ञान प्राप्त किया। केवली मुनि ने उपस्थित जनता को माया-शल्य की भयंकरता समझाई। अगर कमलश्री से मोहकर्मोदवश दोष लग गया, परन्तु वह मायाशल्य न रखकर आलोचना-प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो जाती तो, तिर्यच भवों का इतना भ्रमच टल जाता। किन्तु कमलश्री ने मन में कामवासना आदि का शल्य रखकर उस कृत पापकृत्य को छिपाकर अपरिचित किया। उस मायाशल्य के कारण तिर्यच आयुष्य कर्म बंध गया।





## अत्याचारी अभग्नसेन की कथा (नरकायुष्य का बंध)

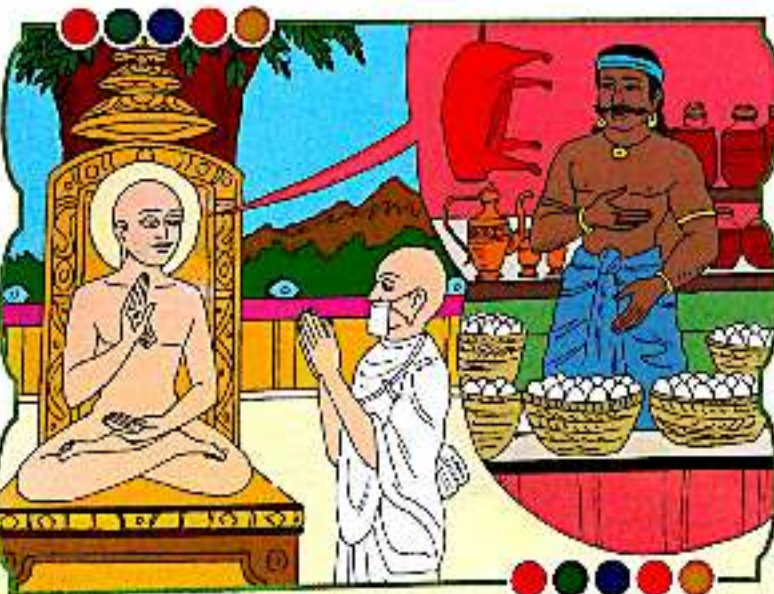
लगभग छब्बीस सौ वर्ष पूर्व पुरिमताल नगर पर राजा महाबल का राज था। नगर के पास घने जंगलों में पर्वतों के बीच चोरपल्ली में अभग्नसेन नाम का चोर सेनापति रहता था। वह बड़ा दुराचारी, अत्याचारी था। आस-पास के गाँवों को लूटता, नागरिकों को तरह-तरह की पीड़ाएँ देता रहता। राजा महाबल ने बहुत प्रयास करके उस खतरनाक निर्दयी चोर सेनापति को गिरफ्तार कर लिया। और एक चौराहे पर लोहे की सांकलों से जकड़कर बाँध दिया। सैनिक उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ देने लगे।



नगर में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम स्वामी ने चौराहे पर उसी अभग्नसेन को देखा, जिसके दोनों हाथ मरोड़ कर पीछे बँधे हैं व साँकलों से पूरा शरीर जकड़ा है। राजपुरुष चमड़े की गीली बँतों से, भातों व लौह दण्ड से प्रहार कर रहे हैं। सिर पर गर्म लोहे की पट्टी बँधी है। उसी के सामने उसके प्रिय परिवारीजन चाचा-चाची, भाई-भतीजे तथा उनकी पत्नियों आदि को कठोर बन्धनों से बाँधकर यंत्रणा दी जा रही है।

उसकी यह दुर्दशा देखकर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर के पास जाकर पूछा—“भंते! उस पुरुष ने पूर्वभव में क्या घोर पापकर्म किये थे, जो ऐसे महादुःखों का भागी बना?”

भगवान ने बताया—“गौतम! पूर्वभव में यह ‘निर्णय’ नामक अण्डों का व्यापारी था। पशु-पक्षियों को मारना, माँस, शराब बेचना और स्वयं भी इनका सेवन करने जैसे अत्यन्त जघन्य पापकर्मों के कारण यहाँ इसे यह महादुःख रूप फल प्राप्त हुआ है। इस भव में भी इसने भयंकर दुष्कर्म किये जिसके फलस्वरूप यह मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होगा।”



कथासार—अण्डों का व्यापार एवं आहार, पंचेन्द्रिय की हिंसा, शराब सेवन, इन प्रवृत्तियों वाला जीव नरक आयुष्य का ही बंध करता है। चोरी भी पापकारी प्रवृत्ति है। चोरों का जीवन सदा भय से आक्रांत, संकटपूर्ण ही रहता है और परभव तो नरक के कष्टों से ही भरा रहता है। अतः इन पापकर्मों से सदा दूर रहना चाहिए।

—वियाकसूत्र, श्रुतकन्ध 1, अ. 3, सूत्र 4-8



## (6) नाम कर्म

आत्मा का छटा गुण अमूर्त है। नाम कर्म उसे रोककर जीव को रूपी शरीर प्रदान करता है। इसके उदय से भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर, जैसे—काला-कलूटा, बैडोल, विभत्स अथवा सुन्दर, चित्ताकर्षक आकृति आदि एवं यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य प्राप्त होते हैं। जीव को नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति मिलने के भी यही कारण हैं।

शरीर और शरीर से सम्बद्ध अंग-प्रत्यंग, डीलडौल, रचना (ढाँचा), इन्द्रियाँ, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शुभ, अशुभ, यश, अपयश, सुस्वर, दुस्वर, सुभग-दुर्भग आदि शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं के कण-कण की रचना करने वाला नाम कर्म ही है।

**उत्तर प्रकृतियाँ**— नाम कर्म की मुख्यतः दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं - शुभ नाम कर्म और अशुभ नाम कर्म। शुभ प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं और अशुभ प्रकृतियाँ पाप रूप हैं। नाम कर्म की 93 उत्तर प्रकृतियाँ हैं किन्तु अन्य अपेक्षा से 103 प्रकृतियाँ भी प्रचलित हैं।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के मूलतः दो भेद हैं—**पिंड प्रकृतियाँ**—(ये 14 हैं और इन 14 के 65 उत्तर भेद हैं) और **अपिण्ड प्रकृतियाँ** (इसके 3 भेद हैं और इन 3 के 28 उत्तर भेद हैं)। इस प्रकार नाम कर्म के  $65+28=93$  भेद हैं। पहले हम पिण्ड प्रकृतियों के बारे में जानेंगे।

**चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ**—पिंड का अर्थ होता है—समूह। जिनके दो, तीन, चार आदि अनेक उपभेद होते हैं, अनेक उपभेदों के समूह वाली प्रकृति को पिंड प्रकृति कहते हैं। पिंड प्रकृतियों के मुख्य 14 भेद हैं तथा 65 उत्तर भेद हैं।

1. गति (4), 2. जाति (5), 3. शरीर (5), 4. अंगोपांग (3), 5. बंधन (5, प्रकारान्तर से 15), 6. संघातन (5), 7. संघयण (6), 8. संस्थान (6), 9. वर्ण (5), 10. गंध (2), 11. रस (5), 12. स्पर्श (8), 13. आनुपूर्वी (4), 14. विहायोगति (2)। इस प्रकार कुल 65 भेद हुए।

इनका परिचय निम्नानुसार है—

(1) **गति नाम कर्म**—देव मनुष्यादि पर्यायों को प्राप्त करने के लिए उस तरफ गमन-गति प्रवृत्ति करना गति नाम कर्म कहलाता है। इस कर्म के उदय से जीव को देव, मनुष्यादि अवस्था प्राप्त होती है, इसके चार भेद हैं—

(i) **नरक गति नाम कर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव को नरक के योग्य शरीर मिलता है उसे नरक गति नाम कर्म कहते हैं। जीव नारकी के रूप में पहचाना जाता है।



(ii) **तिर्यच गति नाम कर्म**—जिस कर्म के उदय के कारण जीव तिर्यच गति के जीव के रूप में पहचाना जाता है उसे तिर्यच योनि योग्य शरीर प्राप्त होता है।



(iii) **मनुष्य गति नाम कर्म**—जिस कर्म के उदय से वह मनुष्य के रूप में पहचाना जाता है उसे मनुष्य पर्याय योग्य शरीर प्राप्त होता है।





(iv) **देव जाति नाम कर्म**—जिस कर्म के उदय से वह देव रूप में पहचाना जाता है उसे देव पर्याय योग्य शरीर प्राप्त होता है।

(2) **जाति नाम कर्म**—अनेक व्यक्तियों (वस्तुओं) में एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहा जाता है, जैसे गो-जाति; यानि काली, भूरी, गोरी सभी गायें, गाय कहलाती हैं। इसी प्रकार इस कर्म के उदय से जीव को एकेन्द्रिय आदि कहा जाता है और उसे द्रव्य-इन्द्रियाँ तथा द्रव्य-इन्द्रियों के आकार प्राप्त होते हैं अथवा इन्द्रिय रचना के निमित्त बनने वाले कर्म पुद्गल जाति नाम कर्म कहलाते हैं। इसके पाँच भेद हैं—



(i) **एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को एक स्पर्श इन्द्रिय ही मिलती है और वह एकेन्द्रिय कहलाता है। एकेन्द्रिय जीव पाँच प्रकार के होते हैं—(1) पृथ्वी, (2) अप, (3) तेजस्, (4) वायु, (5) वनस्पति।



(ii) **द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को स्पर्श और रसना—ये दो इन्द्रियाँ मिलती हैं तथा वह द्वीन्द्रिय कहलाता है; जैसे लट, धुन, सोप, कृमि, अलसिया, चंदनीया आदि।



(iii) **त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को स्पर्श-रसना-घ्राण—इन तीन इन्द्रियों को प्राप्ति होती है और वह त्रीन्द्रिय कहलाता है; जैसे—काँड़े, मकोड़े, चिंचड़, चींटी, खटमल, गजाई, खजूरिया आदि।



(iv) **चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को स्पर्श-रसना-घ्राण-चक्षु—इन चार इन्द्रियों की प्राप्ति होती है और वह चतुरिन्द्रिय कहलाता है; जैसे—मक्खी, मच्छर, भौरा, टिड्डी, पतंगा, बिच्छू, कन्सारी आदि।



(v) **पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को स्पर्श-रसना-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र—इन पाँचों इन्द्रियों को प्राप्ति होती है और वह पंचेन्द्रिय कहलाता है। देव-नारको-मनुष्य तो पंचेन्द्रिय होते ही हैं, वे तिर्यच भी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं जिनके पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

(3) **शरीर नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को शरीर की प्राप्ति होती है अथवा जिस कर्म के उदय से वह शरीर प्राप्त करने योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। शरीर नाम कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—

(i) **औदारिक शरीर नाम कर्म**—इसके उदय से जीव के शरीर की रचना उदार अथवा स्थूल पुद्गलों से होती है। इस शरीर का स्वभाव गलना-सड़ना होता है। इसमें मौस, रक्त, अस्थि, वसा (चर्बी), शुक (वीर्य) और मज्जा होती है। सभी मनुष्यों और तिर्यचों का शरीर औदारिक होता है।





### वैक्रिय शरीर नाम कर्म

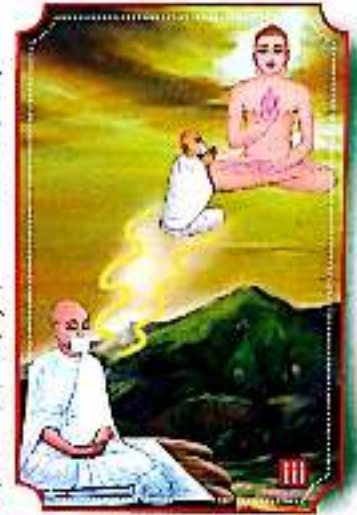


(ii) **वैक्रिय शरीर नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होती है। यह सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित होता है। इससे विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ की जा सकती हैं, अनेक प्रकार के रूप बनाये जा सकते हैं। देव और नारकों को जन्म से ही वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होती है, किन्तु कोई-कोई मनुष्य और तिर्यच विशिष्ट तप आदि कारणों से इसे प्राप्त कर सकते हैं।

(iii) **आहारक शरीर नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को आहारक शरीर बनाने की लब्धि प्राप्त हो जाती है। यह शरीर शुद्ध स्फटिक के समान पुद्गलों से निर्मित होता है। यह आहारक शरीर औदारिक शरीरस्थ रस आदि धातुओं से रहित होता है। चौदह पूर्वधारी भुनिराज को ही यह शक्ति प्राप्त होती है।



(iv) **तैजस शरीर नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को तैजस शरीर की प्राप्ति होती है। प्राणियों के शरीर में विद्यमान उष्णता, ऊर्जाशक्ति से इस शरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह शरीर प्रत्येक संसारी जीव के होता है। कोई-कोई तपस्वी क्रोधाविष्ट होकर तेजोलेश्या के द्वारा दूसरों को हानि अथवा प्रसन्न होने पर शीत लेश्या द्वारा लाभ पहुँचाता है, वह सब भी इसी तैजस शरीर के प्रभाव से ही समझना चाहिए। तैजस शरीर ही कर्म समूह रूप कार्मण शरीर को जलाकर रख करता है।



(v) **कार्मण शरीर नाम कर्म**—इसके उदय से जीव को कार्मण शरीर की प्राप्ति होती है। कार्मण शरीर आत्मा के साथ लगे हुए अष्टकर्म-पुद्गलों का पिण्ड है। यह प्रत्येक संसारी जीव के साथ रहता है। इसका अन्त किये बिना संसार-चक्र से मुक्ति नहीं होती।

**नोट**—औदारिक शरीर से वैक्रिय शरीर, वैक्रिय शरीर से आहारक शरीर, आहारक शरीर से तैजस शरीर, तैजस शरीर से कार्मण शरीर क्रमशः एक-दूसरे से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर हैं।

(4) **शरीर अंगोपांग नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को हाथ-पैर आदि अंग और अँगुलियाँ आदि उपांगों और पर्व, केश, रोमराजि आदि अंगोपांगों की प्राप्ति होती है।

**अंग आठहैं**—दो हाथ, दो पैर, पीठ, पेट, छाती और मस्तक। अंगों के साथ जुड़े हुए नाक, कान, घुटना, अँगुलियाँ आदि त्वांग हैं। अँगुलियों की रेखाएँ, केश, नाखून, पर्व, रोमराजि आदि अंगोपांग हैं। हाथ, पैर आदि अंगों के लिये किसी न किसी आकृति की आवश्यकता





होती है और यह आकृति औदारिक आदि प्रथम तीन शरीरों में ही पाई जाती है। इसलिए इन शरीरों के भेद से अंगोपांग नामकर्म के भी तीन भेद होते हैं—

- (i) **औदारिक अंगोपांग नाम कर्म**—औदारिक शरीर के अंगों और उपांगों के निर्माण के निमित्त कर्म-पुद्गल का संचय करने वाला कर्म।
- (ii) **वैक्रिय अंगोपांग नाम कर्म**—वैक्रिय शरीर के अंगों और उपांगों के निर्माण के लिए कर्म-पुद्गलों की प्राप्ति करने वाला कर्म।
- (iii) **आहारक अंगोपांग नाम कर्म**—आहारक शरीर के अंगों और उपांगों के निर्माण हेतु कर्म-पुद्गलों की प्राप्ति करने वाला कर्म।

कार्मण और तैजस् शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए उनके अंगोपांग नहीं होते। एकेन्द्रिय जीवों में अंगोपांग नामकर्म का उदय नहीं पाया जाता।

(5) **शरीर बन्धन नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहित औदारिक आदि शरीर-पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों का सम्बन्ध होता है। बन्धन नाम कर्म औदारिक आदि शरीरों के पुद्गलों को वैसे ही बाँध देता है, जोड़ देता है जैसे—लाख आदि चिपकने वाले पदार्थों से दो वस्तुएँ आपस में जोड़ दी जाती हैं। यदि बन्धन नाम कर्म न हो तो शरीराकार-परिणत पुद्गलों में वैसी ही अस्थिरता रहती है, जैसी हवा में उड़ते हुए सतु के कर्णों में होती है। शरीरों के नाम के आधार पर ही बन्धन नाम कर्म के पाँच भेद होते हैं—

- (i) **औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहित औदारिक, तैजस् एवं कार्मण शरीर-पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किए हुए औदारिक पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।
- (ii) **वैक्रिय शरीर बन्धन नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय, तैजस् और कार्मण पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किए हुए वैक्रिय पुद्गलों का सम्बन्ध अथवा बंधन होता है।
- (iii) **आहारक शरीर बन्धन नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहित आहारक, तैजस् और कार्मण पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किये हुए आहारक पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है।
- (iv) **तैजस् शरीर बन्धन नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहित तैजस् एवं कार्मण पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस् पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।
- (v) **कार्मण शरीर बन्धन नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहित और नवीन ग्रहण किए गए कार्मण पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है।

उपरोक्त बन्धन नामकर्म के एक अपेक्षा से कुल पन्द्रह भेद हो सकते हैं। जैसे मूल शरीर का मूल शरीर के साथ संयोग करने से पाँच, औदारिक-वैक्रिय और आहारक के साथ क्रमशः एक बार तैजस् शरीर को, एक बार कार्मण शरीर को संयोग करने से  $4 + 3 = 7$  भेद बनते हैं। औदारिक-वैक्रिय और आहारक शरीरों के साथ तैजस् + कार्मण शरीर का संयोग करने पर तीन भेद बनते हैं। इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं। जैसे—

- I **द्विसंयोगी = 5** (1) औदारिक-औदारिक, (2) वैक्रिय-वैक्रिय, (3) आहारक-आहारक, (4) तैजस्-तैजस् और (5) कार्मण-कार्मण।
- II **द्विसंयोगी = 3** (1) औदारिक-तैजस्, (2) वैक्रिय-तैजस्, (3) आहारक-तैजस्।



III द्विसंयोगी = 4 (1) औदारिक-कार्मण, (2) वैक्रिय-कार्मण, (3) आहारक-कार्मण, और (4) तैजस-कार्मण।

IV युगपत् तैजसकार्मण-संयोगी = 3 (1) औदारिक-तैजस-कार्मण, (2) वैक्रिय-तैजस-कार्मण और (3) आहारक-तैजस-कार्मण। इस प्रकार बंधन-नाम कर्म से विस्तार अपेक्षा से  $5 + 3 + 4 + 3 = 15$  भेद हुए। औदारिक, वैक्रिय, आहारक—ये तीनों शरीर परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता।

(6) **संघात नाम कर्म**—संघात का अर्थ है एकत्रित करना। इस कर्म के उदय से पूर्वगृहित शरीर-पुद्गलों पर नवीन ग्रहण किये जा रहे शरीर-योग्य पुद्गल व्यवस्थित रूप से एकत्रित होकर स्थापित होते हैं। इसके बाद बन्धन नाम कर्म के द्वारा वे परस्पर बँध जाते हैं। जैसे दंताली से इधर-उधर बिखरी घास एकत्रित की जाती है ताकि वह गट्ठर के रूप में बँध सके, वैसे ही संघात नाम कर्म शरीर योग्य पुद्गलों को समीप करता है और बंधन नाम कर्म के द्वारा वे बँध जाते हैं। औदारिक आदि पाँच शरीरों के आधार पर संघात नाम कर्म के भी पाँच भेद होते हैं—

(i) औदारिक शरीर संघात नाम कर्म, (ii) वैक्रिय शरीर संघात नाम कर्म, (iii) आहारक शरीर संघात नाम कर्म, (iv) तैजस शरीर संघात नाम कर्म, और (v) कार्मण शरीर संघात नाम कर्म।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप में परिणत, गृहित एवं गृह्यमाण पुद्गल एकत्रित होकर और एक-दूसरे के पास आकर व्यवस्थित हो जाएँ—बन्धन के योग्य बन जाएँ, उसे औदारिक शरीर संघात नाम कर्म कहा जाता है।

इसी प्रकार अन्य चारों संघात नाम कर्मों का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

(7) **संहनन (संघयण) नाम कर्म**—इस कर्म का प्रभाव हड्डियों की रचना और व्यवस्था पर पड़ता है। इसके उदय से जीव के शरीर में हड्डियों से सम्बन्धित रचना की व्यवस्था होती है। औदारिक शरीर के सिवाय वैक्रिय आदि किसी भी शरीर में हड्डियाँ नहीं होती हैं, अतः संहनन नामकर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यचों के औदारिक शरीर होने से, उनमें ही संहनन नाम कर्म का उदय पाया जाता है। इसके छह भेद हैं—

(i) **वज्रऋषभनाराच संहनन नाम कर्म**—वज्र का अर्थ कील है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन-पट्ट और नाराच का अर्थ मर्कटबन्ध है। इस संहनन में दोनों हड्डियाँ मर्कट बन्ध द्वारा आपस में एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन-पट्टा होता है और चौथी हड्डी उन तीनों हड्डियों में कील की तरह लगी होती है। ऐसा सुदृढ़तम अस्थिबन्धन वज्रऋषभनाराच संहनन कहलाता है। इस कर्म के उदय से जीव को ऐसा ही अस्थिबन्धन प्राप्त होता है। अरिहंत, चक्रवर्ती, युगलिक आदि को वह संहनन होता है।



(ii) **ऋषभनाराच संहनन नाम कर्म**—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना विशेष में दोनों ओर हड्डियों का मर्कटबन्ध हो, तीसरी हड्डी के वेष्टन (पट्टा) भी हो, किन्तु तीनों हड्डियों को भेदने वाली कीली न हो।



(iii) **नाराच संहनन नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को





ऐसे संहनन की प्राप्ति होती है जिसमें हड्डियों की रचना में दोनों ओर मर्कट बन्ध तो हो लेकिन वेष्टन (पट्टा) और कीली न हो।

(iv) अर्धनाराच संहनन नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को ऐसे संहनन की प्राप्ति होती है, जिसमें हड्डियों का एक छोर मर्कट बन्ध से जुड़ा होता है और दूसरा छोर कीली से भिदा होता है।



(v) कीलिका संहनन नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को ऐसा संहनन प्राप्त होता है जिसमें हड्डियाँ केवल एक कीली से जुड़ी होती हैं, मर्कट-बन्ध आदि कुछ नहीं होते।

(vi) सेवार्त्तिक संहनन नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को ऐसे संहनन की प्राप्ति होती है जिसमें हड्डियाँ पर्यन्त भाग में एक-दूसरे से अड़ी-सी रहती हैं तथा सदा चिकने पदार्थों के प्रयोग तथा तैल आदि की मालिश की आवश्यकता पड़ती रहती है।



उक्त छह संहननों में से द्विन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक (इन चार जाति के जीवों में) छटा संहनन होता है। एकेन्द्रिय जीवों में संहनन होता ही नहीं है। प्रारम्भ के तीन संहनन श्रेष्ठ हैं। श्रेष्ठ संहनन वाले मनुष्य ही ध्यान करने में पूर्ण सक्षम होते हैं।

(8) संस्थान नाम कर्म—शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीर की संरचना, शास्त्र में कहे गये प्रमाणों के अनुरूप माप वाली अथवा माप रहित होती है, उसे संस्थान नाम कर्म कहते हैं। इसके छह भेद हैं—

(i) समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म—'सम' का अर्थ 'समान' है 'चतुर' का अर्थ 'चार' और 'स्र' का अर्थ है कोण। पालथी मारकर बैठे मनुष्य के चारों कोण समान हों, अर्थात् दोनों घुटनों का, वाम स्कन्ध (बायाँ कन्धा) और दक्षिण स्कन्ध (दायाँ कन्धा) का, आसन और कपाल का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी शरीर-आकृति प्राप्त हो, उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म कहा जाता है।



(ii) न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान नाम कर्म—न्यग्रोध वटवृक्ष को कहते हैं। परिमंडल का अर्थ है—चारों ओर से। वटवृक्ष का ऊपर भाग फैला हुआ और सुन्दर होता है। नीचे का भाग संकुचित होता है। जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसके नाभि से ऊपर तो अवयव सुन्दर तथा पूर्ण विस्तृत हों और नाभि से नीचे के अवयव पतले हों उसे न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को ऐसी आकृति प्राप्त होती है।

(iii) सादि संस्थान नाम कर्म—सादि का अर्थ है नाभि के नीचे का भाग। इस कर्म के उदय से जीव की शरीर रचना ऐसी होती है जिसके अवयव नाभि से ऊपर तो पतले (हीन) होते हैं और नाभि के नीचे के अवयव



पूर्ण/मोटे हों। यह संस्थान न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान से विपरीत होता है। इस संस्थान का रूप संभुज त्रिकोणात्मक होता है।

(iv) कुब्ज संस्थान नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से कुब्ज (कुबड़े) शरीर की प्राप्ति हो, वह कुब्ज संस्थान नाम कर्म है। जिस शरीर में हाथ-पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, किन्तु छाती, पीठ, पेट आदि अवयव टेढ़े-मेढ़े हों, वह कुब्ज संस्थान है।

(v) वामन संस्थान नाम कर्म—इस कर्म के उदय से सामान्य से कम अवगाहना वाला वामन (बौना) शरीर प्राप्त होता है।

(vi) हुण्डक संस्थान नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को बेडौल शरीर प्राप्त होता है, अर्थात् शरीर यथायोग्य परिमाण युक्त नहीं होता। सभी अंग टेढ़े-मेढ़े होते हैं। समस्त देवों में केवल समचतुरस्र संस्थान पाया जाता है। पृथ्वीकाय,

अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकायिक एवं विकलेन्द्रिय जीवों के केवल हुण्डक संस्थान ही पाया जाता है। नारकी जीवों में भी हुण्डक संस्थान ही पाया जाता है। मनुष्य एवं तिर्यच पंचेन्द्रिय में छहों संस्थान पाये जाते हैं।



(9) वर्ण नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को वर्ण (रंग) की प्राप्ति होती है, उसे वर्ण नाम कर्म कहते हैं। शरीर का रंग काला, गोरा आदि इसी कर्म के कारण होता है। इसके पाँच भेद हैं—

- (i) कृष्णवर्ण नाम कर्म—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग कोयले जैसा काला होता है। जैसे—नीग्रो आदि जातियाँ, पक्षियों में कौआ आदि।
- (ii) नीलवर्ण नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर मोर जैसा नीला होता है।
- (iii) रक्तवर्ण नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रंग सिन्दूर अथवा टमाटर के समान लाल होता है। जैसे—रैड-इण्डियन आदि जातियाँ।
- (iv) हारिद्रवर्ण नाम कर्म—इस कर्म के कारण शरीर का रंग हल्दी या आम के समान पीला होता है। जैसे—चीनी तथा अन्य पीतवर्णीय (Yellowish) जातियाँ।
- (v) श्वेतवर्ण नाम कर्म—इसके उदय से जीव के शरीर का रंग शंख या खरगोश के समान श्वेत होता है। यथा—हिमालय पर्वत पर बसने वाली किन्नर आदि जातियों के लोग।





(10) गंध नाम कर्म—जिस कर्म के उदय के कारण जीव के शरीर में सुगन्ध अथवा दुर्गंध की प्राप्ति होती है, उसे गंध नाम कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं।

- (i) सुरभिगंध नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर प्राप्त होता है जिसमें से केसर, कस्तूरी, गुलाब, कपूर जैसी सुगन्ध निकलती है। यथा—तोरुंकर—देवों का शरीर।
- (ii) दुरभिगंध नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में से सड़ी-गली वस्तुओं जैसी बुरी गंध निकलती हो, उसे दुरभिगंध नाम कर्म कहते हैं। उदाहरण के लिए द्रौपदी को एक पूर्वजन्म में (सुकुमालिका के भव में) और महाराजा श्रेणिक की रानी दुर्गंधा को दुर्गन्धयुक्त शरीर मिला था।



(11) रस नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को शरीर में मधुर, तिक्त आदि शुभ-अशुभ रसों की प्राप्ति होती है, उसे रस नाम कर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—

- (i) तिक्त रस नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आहारादि की परिणिति काली-मिर्च या सौंठ जैसी तिक्त रस प्रधान होती है।
- (ii) कटु रस नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आहारादि की परिणिति नीम जैसी कड़वी होती है।
- (iii) कषाय रस नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आहारादि की परिणिति हरड़-बहेड़ा आदि के समान कसैली होती है।
- (iv) अम्ल रस नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आहारादि की परिणिति नींबू-इमली जैसे खट्टे पदार्थों जैसी होती है।
- (v) मधुर रस नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आहारादि की परिणिति मिश्री आदि जैसे मधुर रस वाली होती है।



(12) स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में शीत, तृष्ण आदि स्पर्श की प्राप्ति होती है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं। इसलिए इसके भी आठ भेद हैं—

(i) गुरु स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी होता है।

(ii) लघु स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर रई जैसा हलका होता है।

(iii) मृदु स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को मक्खन के समान कोमल स्पर्श वाले शरीर की प्राप्ति होती है।

(iv) कर्कश स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसे अथवा पत्थर जैसे कर्कश (खुरदरे) स्पर्श वाला होता है।

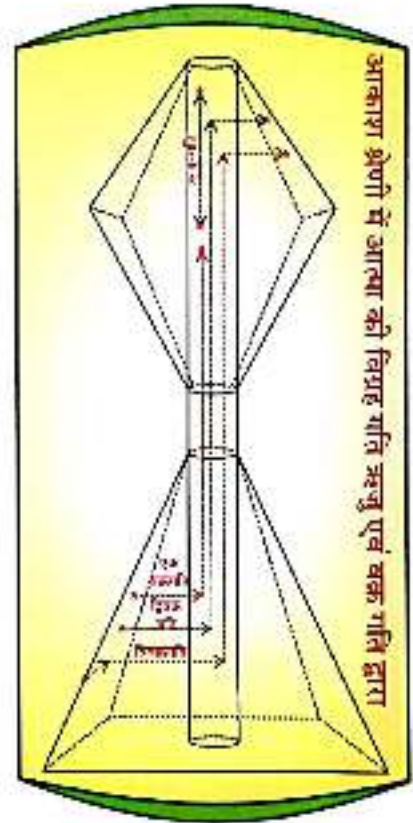
(v) शीत स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के फलस्वरूप जीव को शीतल स्पर्श वाले शरीर की प्राप्ति होती है।





- (vi) उष्ण स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के प्रभाव से जीव को आग जैसा उष्ण स्पर्श वाला शरीर मिलता है। द्रौपदी को एक पूर्वभ्रम में ऐसा ही शरीर मिला था।
- (vii) स्निग्ध स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को घी (घृत) जैसे चिकने स्पर्श वाले शरीर की प्राप्ति होती है।
- (viii) रूक्ष स्पर्श नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर मिलता है जिसका स्पर्श बालू के समान रूखा होता है।

(13) आनुपूर्वी नाम कर्म—इस कर्म के उदय से विग्रहगति में रहा हुआ जीव अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है। विग्रहगति यानि एक भव से दूसरे भव में उत्पन्न होने के मध्य के काल में होने वालो आत्मा की गति अर्थात् परभव में जाते हुए जीव को उत्पत्ति क्षेत्र की तरफ मोड़ने का काम करने वाले कर्म को आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। इसका उदय तभी होता है जब जीव को मरकर विषम श्रेणी में स्थित उत्पत्ति-स्थान में जन्म लेना होता है। यदि उत्पत्ति-स्थान समश्रेणी में हुआ तो आनुपूर्वी नामकर्म के उदय की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उस स्थिति में तो जीव स्वयं ही, पूर्व-शरीर से प्राप्त वेग के कारण, उत्पत्ति-स्थान पर पहुँच जाता है। विग्रहगति दो प्रकार की होती है— 1. ऋजु गति—यह गति एक ही समय की है। इस गति से परभव में जाता जीव मृत्यु पाने के साथ ही सीधी (सम) गति से उत्पत्ति स्थान में सीधा एक ही समय में उत्पन्न हो जाता है। (2) वक्र गति—यह गति एक से अधिक समय वाली है। जीव एक शरीर को छोड़कर जब किसी दूसरे शरीर को ग्रहण करने के लिए परभव को ओर प्रस्थान (गति) करता है, तब स्वोपार्जित कर्मवश वह वक्र गति से उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है। वक्र गति से जाने वाले जीव का मृत्यु-स्थान और उसका उत्पत्ति-स्थान दोनों समश्रेणी पर नहीं होते हैं, इस कारण जीव सीधा या श्रेणी भंग करके तिरछा नहीं जा सकता। यह एक अटल नियम है। अतः उसे प्रथम सीधा जाकर बाद में मोड़ लेकर ही उत्पत्ति की श्रेणी पर पहुँचकर उत्पत्ति प्रदेश पर पहुँचना पड़ता है। इन्हीं मोड़ को धारण करने का नाम ही वक्र गति है।



1. कर्म-मुक्त होकर मुक्तालय में जाते सभी जीवों में तथा संसारी जीवों में ऋजु गति मिलती है। इसमें मुक्तात्मा का मोक्ष गमन हमेशा उर्ध्व-समश्रेणी पर ही होता है। इसी से पता चलता है कि जीव की मूल गति तो ऋजु ही है लेकिन अपने कृत कर्मों के कारण उसे वक्र गति से जाना पड़ता है।
2. वक्र गति तीन प्रकार की होती है—एक वक्र गति, द्विवक्र गति, त्रिवक्र गति। मान्यता भेद से चतुर्षु वक्र गति भी मानी जाती है।

चूँकि संसारी जीव चार गतियों में ही भ्रमण करता है इसलिए आनुपूर्वी नाम कर्म के भी चार ही भेद होते हैं—





- (i) **नरकानुपूर्वी नाम कर्म**—जीव को नरक भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार गति करवाने एवं उत्पत्ति स्थान की तरफ मोड़ने, गमन करवाने वाले कर्म को नरकानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।
- (ii) **तिर्यचानुपूर्वी नाम कर्म**—जीव को तिर्यच भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति स्थल की तरफ मोड़ने, गमन करवाने वाले कर्म को तिर्यचानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।
- (iii) **मनुष्यानुपूर्वी नाम कर्म**—जीव को मनुष्य भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति स्थल की तरफ मोड़ने, गमन करवाने वाले कर्म को मनुष्यानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।
- (iv) **देवानुपूर्वी नाम कर्म**—जीव को देव भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति स्थल की तरफ मोड़ने, गमन करवाने वाले कर्म को देवानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

(14) **विहायोगति नाम कर्म**—जीव की चाल (चलने का तरीका या गति करने का तरीका) को विहायोगति कहते हैं। उसे प्रदान करने वाले कर्म को विहायोगति नाम कर्म कहते हैं। जीव की गमन क्रिया शुभ अथवा अशुभ होती है। इसके कारण इस कर्म के भी दो भेद हैं—

- (i) **प्रशस्त (शुभ) विहायोगति नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव की चाल (गमन क्रिया) हाथी या हंस के समान शुभ, प्रशंसनीय होती है।
- (ii) **अप्रशस्त (अशुभ) विहायोगति नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव की गति, चाल अथवा गमनक्रिया ऊँट या गधे के समान अशुभ होती है।



इस प्रकार उपरोक्त चौदह पिण्ड प्रकृतियों के कुल 75 भेद हुए। आगे अपिण्ड प्रकृतियों के भेद बताये गये हैं।

**अपिण्ड प्रकृतियाँ तीन हैं—** 1. प्रत्येक प्रकृति, 2. त्रस दशक प्रकृति, 3. स्थावर दशक प्रकृति।

(1) **प्रत्येक प्रकृति**—जिस प्रकृति के भेद के उपभेद नहीं होते हैं, उसे प्रत्येक प्रकृति कहते हैं। यह आठ प्रकार की होती हैं—



उपघात नाम कर्म

- (i) **उपघात नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव अपने ही विकृत बने हुए अंगों-उपांगों द्वारा कष्ट पाता है। जैसे—छठी अँगुली, डबल दाँत आदि।
- (ii) **पराघात नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव बलवानों के लिए भी अजेय बनता है। अर्थात् इतना तेजस्वी बनता है कि बलवान व्यक्ति भी उसके सामने हार जाते हैं, उसके प्रभाव से वे पराभूत हो जाते हैं। उसके चेहरे और वाणी के तेज के सामने बड़े-बड़े परास्त हो जाते हैं।
- (iii) **उच्छ्वास नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को श्वास-उच्छ्वास लेने की शक्ति प्राप्त होती है।







(iv) आतप नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है। जैसे—सूर्य के विमान के नीचे लगे हुए बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकायमय अंकरल का प्रकाश। इन जीवों के सिवाय अन्य जीवों के आतप नाम कर्म का उदय नहीं होता, न ही अग्निकाय जीवों के आतप नाम कर्म का उदय होता है। उसका कारण यह है कि अग्निकाय जीवों का शरीर स्वयं उष्ण होता है। फिर उन्हें उष्णस्पर्श नाम कर्म का उदय होता है तथा

लोहितवर्ण नाम कर्म के कारण उनके शरीर से लाल रंग का प्रकाश प्रसारित होता है।



(v) उद्योत नाम कर्म—इस कर्म के उदय से प्राणी का शरीर शीतल प्रकाश प्रसारित करता है। उदाहरणार्थ—चन्द्रकांत मणि का प्रकाश, चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र आदि के विमानों के नीचे लगे बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकायमय रत्नों का प्रकाश; अनेक जड़ी-बूटियों, जुगनु, रत्न एवं प्रकाश फैलाने वाली दूसरी औषधियों में इसी उद्योत कर्म का उदय जानना चाहिए।



(vi) अगुरुलघु नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर न अत्यधिक भारी होता है और न अत्यधिक हल्का ही; जिस जीव का शरीर परिमाण युक्त वजन वाला होता है,

वह अगुरुलघु नाम कर्म का ही फल है।



(vii) तीर्थकर नाम कर्म—इस कर्म के उदय से तीर्थकर पद की प्राप्ति होती है, जो चतुर्विध संघ (तीर्थ) की स्थापना करते हैं, उसे तीर्थकर कहते हैं। तीर्थकर नाम कर्म का बंध बीस स्थानकों की आराधना से होता है।

(viii) निर्माण नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर के अंग-उपांग यथास्थान व्यवस्थित होते हैं।

(2) त्रस दशक प्रकृति—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ये दस प्रकृतियाँ होती हैं—

(i) त्रस नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव त्रसकायिक बनता है। वह अपने हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति के लिए गमन-क्रिया करता है, चलता-फिरता है। दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव त्रस होते हैं।

(ii) बादर नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल (बादर) शरीर की प्राप्ति होती है। जिसे आँखों से देखा जा सके उसका नाम बादर नहीं है, क्योंकि

कई बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर ऐसा भी होता है जो आँखों से नहीं देखा जा सकता। अर्थात् बादर नाम कर्म वह है जो पृथ्वीकाय आदि जीवों में बादर परिणाम उत्पन्न करता है। जिससे उन जीवों के शरीर—समुदाय में एक प्रकार



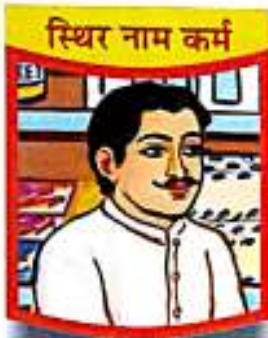


की अभिव्यक्ति की क्षमता प्रकट हो जाती है। तब उस जीव का एक शरीर अथवा उसी प्रकार के अनेक जीवों के अनेक शरीर इकट्ठे होने पर आँखों अथवा यंत्र की सहायता से देखे जा सकते हैं। यह जीव विपाकनीय कर्म प्रकृति है जो शरीर के माध्यम से जीवों में बादर परिणाम को उत्पन्न करती है और उससे वह दिखते हैं। किन्तु जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता वह जीव एक हो या समुदाय रूप में एकत्रित हों, दिखाई नहीं देते।

- (iii) **पर्याप्त नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों से युक्त होता है। जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने, उनको आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है, जीव की उस शक्ति को पर्याप्त कहते हैं। पर्याप्तियाँ छह हैं—(1) आहार, (2) शरीर, (3) इन्द्रिय, (4) श्वासोच्छ्वास, (5) भाषा और (6) मन:पर्याप्त।



- (iv) **प्रत्येक शरीर नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को अपना स्वतंत्र शरीर प्राप्त होता है। साधारण वनस्पतिकाय के अतिरिक्त सभी जीवों के प्रत्येक नाम कर्म का ही उदय रहता है।



स्थिर नाम कर्म

- (v) **स्थिर नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव के दाँत, हड्डी आदि अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। गिरते या खिसकते नहीं हैं।

- (vi) **शुभ नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव के नाभि से ऊपर के अवयव शुभ/सुन्दर होते हैं। अर्थात् जीव को चेहरा, हाथ, आँख, नाक-नकशा सुन्दर प्राप्त होता है।



सुभग नाम कर्म

- (vii) **सुभग नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी सबको प्रिय लगता है एवं सौभाग्यशाली होता है।

- (viii) **सुस्वर नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर एवं प्रीति बढ़ाने वाला होता है।



सुस्वर नाम कर्म

- (ix) **आदेय नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव का वचन साधारणतया सबको मान्य होता है, सहज ही उसका कोई उल्लंघन नहीं करता।

- (x) **यश:कीर्ति नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को यश और कीर्ति की प्राप्ति होती है। किसी एक दिशा में ख्याति एवं प्रसिद्धि फैलना कीर्ति है। चारों दिशाओं में प्रशंसा व ख्याति फैलना यश है अथवा दान तप आदि से जो प्रसिद्धि होती है, उसे कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने पर जो ख्याति होती है, उसे यश कहते हैं। जैसे राजा कुमारपाल को यश और कीर्ति दोनों प्राप्त थे।



यश:कीर्ति नाम कर्म



(3) **स्थावर दशक प्रकृति**—ये प्रकृतियाँ त्रसदशक प्रकृतियों से विपरीत हैं। ये भी दस हैं—

(i) **स्थावर नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में अथवा सुख-दुःख के संयोगों में एक-स्थान से दूसरे स्थान तक आ-जा नहीं सकता, वह एक स्थान पर ही स्थिर रहता है। एकेन्द्रिय जीवों को ही इस प्रकृति का उदय होता है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, ये पाँच स्थावर जीव हैं। इनमें सिर्फ प्रथम—स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। यद्यपि तेजस्काय और वायुकाय में स्वाभाविक गति तो है, किन्तु इनमें द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गर्मी आदि से बचने की गति न होने से उन्हें स्थावर नाम कर्म का उदय है।



(ii) **सूक्ष्म नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है। ये आँखों से दिखाई नहीं देते। असंख्य अथवा अनन्त जीवों के शरीर एकत्र होने पर भी आँख से अथवा किसी अन्य यंत्र से दिखाई नहीं देते। सूक्ष्म शरीर न किसी को रोकता और न स्वयं ही किसी से रुकता है। इस कर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों में होता है।

(iii) **अपर्याप्त नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाता।

अपर्याप्त के दो भेद हैं—(1) **लब्ध-अपर्याप्त**—जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लब्ध-अपर्याप्त कहलाते हैं। किन्तु इसमें भी जीव आहार, शरीर और इन्द्रिय पर्याप्त तो पूरी करता ही है, क्योंकि इन पर्याप्तियों के पूर्ण किये बिना आगामी भव की आयु का बन्ध ही नहीं हो सकता। (2) **करण-अपर्याप्त**—इसके विपरीत जो जीव अभी तो अपर्याप्त हैं, किन्तु आगे यथायोग्य समस्त पर्याप्तियाँ पूर्ण करने वाले हैं, उन्हें करण-अपर्याप्त कहते हैं।

(iv) **साधारण नामकर्म**—इस कर्म के उदय से अनन्तजीवों को एक ही शरीर मिलता है। अनन्त जीव एक ही काया में रहते हैं। इस साधारण शरीरधारी अनन्त जीवों के जीवन, मरण, आहार, श्वासोच्छ्वास आदि परस्परश्रित होते हैं। इसलिए वे साधारण कहलाते हैं। ये जीव साधारण वनस्पति और निगोद कहलाते हैं। साधारण वनस्पति, जैसे—जमोकन्द, लहसुन, प्यास आदि।



(v) **अस्थिर नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से कान, भौंह आदि शरीर के अवयव अस्थिर, चपल होते हैं।

(vi) **अशुभ नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से शरीर के नाभि से नीचे के अवयव अशुभ होते हैं। सामान्यतः मनुष्य के शरीर का नाभि से ऊपर का भाग शुभ माना जाता है और नीचे का भाग अशुभ माना जाता है। यही कारण है कि यदि किसी के पैर की ठोकर लगती है तो उसे अशुभ समझा जाता है।

(vii) **दुर्भग नाम कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव उपकारी होता हुआ भी या परिचित होने पर भी लोगों को अप्रिय होता है। दूसरे जीव उससे शत्रुता, ईर्ष्या, द्वेष भाव रखते हैं। वह सदा अपमान को प्राप्त होता है।



(viii) दुःस्वर नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का स्वर सुनने में कर्कश—अप्रिय लगता है। जैसे—कौए का काँव-काँव का स्वर। गधे की ढेंचू...ढेंचू...ढेंचू...आदि।

(ix) अनादेय नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव का वचन युक्तियुक्त एवं ग्रहण करने योग्य होते हुए भी लोग इसे मान्य नहीं करते हैं।



(x) अयशःकीर्ति नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को निंदा, अकीर्ति और अयश मिलता है।

इस प्रकार नाम कर्म के कुल भेद 93 होते हैं—चौदह पिण्ड प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियाँ 65, प्रत्येक प्रकृतियाँ 8, त्रस प्रकृतियाँ 10, स्थावर प्रकृतियाँ 10।



कर्म और (2) अशुभ नाम कर्म।

शुभ नाम कर्म चार कारणों से बँधता है—(1) काया की सरलता से—काया की सरलता रखने से, काया का यत्नापूर्वक प्रयोग करने से, यत्नापूर्वक चलने से, यत्नापूर्वक बैठने से, यत्नापूर्वक खड़े रहने से, सावद्य व्यापार का त्याग करने से, काया का पाप कार्यों में प्रयोग न करने से। (2) भाव की सरलता से—मन की सरलता रखने से, मन की वक्रता त्यागने से, माया-कपट का प्रयोग न करने से, भलमनसाई के विचारों से, मन में किसी के प्रति खराब भाव न लाने से, अपकारी पर भी उपकार करने के भाव रखने से। (3) भाषा की सरलता से—भाषा की सरलता रखने से, वाणी का विवेक रखने से, यत्नापूर्वक बोलने से, बड़ों के, गुणोजनों के गुणकीर्तन करने से, हितकारी, मितकारी, प्रियकारी वाणी बोलने से, दूसरों को जिनवाणी समझाने से, धार्मिक उपदेश देने से, सम्यक् बोध देने से, दूसरे को धर्म में स्थिर करने से। (4) कथनी-करनी एक रखने से—कथन और करनी एक रखने से, जैसा अपने लिए सोचो वैसा ही दूसरों के लिए सोचने से। इसके विपरीत कार्य करने से अशुभ नाम कर्म बँधता है। अशुभ नाम कर्म बन्ध के कारण ये हैं—(1) काया की वक्रता (कुटिलता), (2) भाव-कुटिलता, (3) भाषा-कुटिलता और (4) कथनी-करनी में एकरूपता न रखना।



फलभोग—नाम कर्म का भोग (उदय) 14 प्रकार से होता है—(1) इष्ट शब्द, (2) इष्ट रूप, (3) इष्ट गंध, (4) इष्ट रस, (5) इष्ट स्पर्श, (6) इष्ट गति, (7) इष्ट स्थिति, (8) इष्ट लावण्य, (9) इष्ट यशःकीर्ति, (10) इष्ट उत्थान (चेष्टा विशेष), कर्म (भ्रमणादि क्रिया), बल (शरीर का सामर्थ्य), वीर्य (शरीर से उत्पन्न होने वाली शक्ति), पुहषाकार (स्वाभिमान विशेष) पराक्रम (आत्माभिमान को रक्षा के लिए प्रयत्नविशेष), (11) इष्ट स्वरता, (12) कान्तस्वरता, (13) प्रियस्वरता, (14) मनोज्ञस्वरता। इन 14 वस्तुओं की प्राप्ति शुभ नाम कर्म का फल भोग है। इसके विपरीत फल अशुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं।

फलभोग—नाम कर्म का भोग (उदय) 14 प्रकार से होता है—(1) इष्ट शब्द, (2) इष्ट रूप, (3) इष्ट गंध, (4) इष्ट रस, (5) इष्ट स्पर्श, (6) इष्ट गति, (7) इष्ट स्थिति, (8) इष्ट लावण्य, (9) इष्ट यशःकीर्ति, (10) इष्ट उत्थान (चेष्टा विशेष), कर्म (भ्रमणादि क्रिया), बल (शरीर का सामर्थ्य), वीर्य (शरीर से उत्पन्न होने वाली शक्ति), पुहषाकार (स्वाभिमान विशेष) पराक्रम (आत्माभिमान को रक्षा के लिए प्रयत्नविशेष), (11) इष्ट स्वरता, (12) कान्तस्वरता, (13) प्रियस्वरता, (14) मनोज्ञस्वरता। इन 14 वस्तुओं की प्राप्ति शुभ नाम कर्म का फल भोग है। इसके विपरीत फल अशुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं।



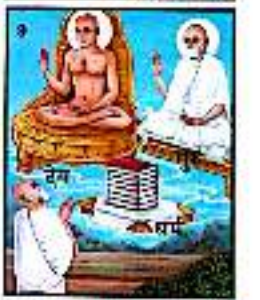
**तीर्थकर नाम कर्म बंध के कारण**—नाम कर्म की प्रकृतियों में तीर्थकर नाम कर्म सर्वोत्कृष्ट श्रेणी है। अतएव उसके बंध हेतुओं को अलग से बताया जा रहा है। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में तीर्थकर नाम कर्म उपार्जन के बीस बोलों का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

“अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुव-तवस्सीसु। वच्छल्लया य तेसिं, अभिक्ख - नाणोवओगे य ॥  
दंसण - विणए आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारो। खणलव - तव - च्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥  
अपुव्वनाण - गहणे, सुवभत्ती पवयणे - पभावणया। एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥”

-पायाधम्मकहाओ १/८



1. अरिहंत-वत्सलता—अरिहंत भगवान् के गुणों का (मानसिक, वाचिक एवं कायिक तल्लीनता-पूर्वक) उत्कीर्तन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
2. सिद्ध-वत्सलता—सिद्ध भगवान् के गुणों का (मानसिक, वाचिक एवं कायिक तल्लीनता-पूर्वक) उत्कीर्तन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
3. प्रवचन-वत्सलता—प्रवचन (जिनवाणी के) ज्ञान की आराधना करने से एवं प्रवचन-ज्ञाता के गुणों का उत्कीर्तन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
4. गुरु-वत्सलता—धर्म-गुरु के गुणों का उत्कीर्तन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
5. स्थविर-वत्सलता—स्थविर मुनिराजों के गुणों का उत्कीर्तन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
6. बहुश्रुत-वत्सलता—बहुश्रुत-मुनिराजों के गुणों का उत्कीर्तन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
7. तपस्वी-वत्सलता—तपस्वी-मुनिराजों के गुणों का उत्कीर्तन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
8. अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग—निरंतर ज्ञान में उपयोग रखने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
9. दर्शन-निरतिचार—शुद्ध सम्यक्त्व धारण (एवं पालन) करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
10. विनय—ज्ञानादि का यथायोग्य विनय करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
11. आवश्यक—सामायिक आदि छहों आवश्यक-कर्तव्यों का भाव-पूर्वक शुद्ध पालन करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।
12. निरतिचार-शीलव्रत—निरतिचार शील एवं व्रत (मूलगुण व उत्तरगुणों







का पालन) करने से जीव तीर्थकर- नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

13. क्षणलव—प्रतिक्षण निरंतर संवेग-भावना रखने से एवं शुभ ध्यान में निरत रहने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

14. तप—यथाशक्ति बाह्य एवं आभ्यंतर तपस्या करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

15. त्याग—सुपात्र (श्रमणादिकों) को प्रासुक अशनादि का दान देने से, क्रोधादि कषायों का उपशमन करने से एवं ज्ञानादि का वितरण करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

16. वैयावृत्य—आचार्य-उपाध्याय-स्थविर-तपस्वी-ग्लान-नवदीक्षित, स्वधर्मों, कुल, गण एवं संघ-इन सबकी भक्तिभाव-पूर्वक वैयावृत्य (सेवा) करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

17. समाधि—चतुर्विध संघ का एवं विशेष रूप से गुरु महाराज का मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रखने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

18. अपूर्व ज्ञान-ग्रहण—नित्य नवीन ज्ञान का निरंतर अभ्यास करने से जीव तीर्थकर- नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

19. श्रुत-भक्ति—श्रुत (जिनवाणी) की भक्ति (बहुमान) करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।

20. प्रवचन-प्रभावना—देशना (उपदेश आदि) द्वारा प्रवचन (जिनवाणी) की प्रभावना करने से जीव तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन करता है।



**अशुभ नाम कर्म के निवारण के उपाय :**

1. "अशुभ नामे शुभ मेगे"- इस आगम पंक्ति के अनुसार पूर्ववद्ध अशुभ नाम कर्म को शुभ नाम कर्म में संक्रमित करने के लिए सरलता के साथ धर्माराधना करें।
2. अपयश, अपमान, अनादर आदि मिलने पर अपने ही अशुभ नाम कर्म का फल मानें एवं दूसरों को दोष न दें।
3. प्रबल पुण्यवाणी के धनी आचार्य सम्राट पूज्य श्री जयमलजी म. सा. जिनके इतने शुभ नाम कर्म का उदय था कि वे कभी भी, कहीं भी, किसी भी यति से चर्चा में पराजित नहीं हुए। आज भी उनकी यशोकीर्ति चहुँ दिशाओं में फैली हुई है। ऐसे महापुरुष का नाम मात्र स्मरण करने से अथवा नित्य 'जय जाप' द्वारा उनकी स्तुति करने से अशुभ नाम कर्म शुभ नाम कर्म में संक्रमित हो जाता है।

**नाम कर्म की स्थिति और अबाधाकाल**—इसकी स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट बीस कोटाकोटी सागरौपम को है और अबाधाकाल दो हजार वर्ष है।



## श्रीकृष्ण की धर्मदलाली (शुभ नामकर्म का बंध)

जब वासुदेव श्रीकृष्ण ने द्वारका के विनाश की भविष्यवाणी सुनी तो उनके अन्तर में दीक्षा लेने के भाव जाग्रत होने लगे किन्तु पूर्वभ्रम में किये गये निदान के कारण वासुदेव कभी दीक्षा नहीं लेते इसलिए श्रीकृष्ण ने सोचा कि 'मैं दीक्षा नहीं ले सकता किन्तु दूसरों को दीक्षा लेने की प्रेरणा तो दे ही सकता हूँ।' ऐसा विचार करके उन्होंने द्वारिका में उद्घोषणा करवाई—“भविष्य में द्वारिका नगरी का विनाश होने वाला है। इसमें रहने वाले सभी प्राणी अग्नि में जलकर नष्ट हो जायेंगे, अतः शीघ्रातिशीघ्र घर-संसार का मोह त्यागकर भगवान् अरिष्टनेमि के पास निर्ग्रन्थ प्रवज्या धारण करके मनुष्य जन्म सार्थक करो। जो कोई दीक्षित भव्यात्माओं के सगे सम्बन्धी बालक, वृद्ध अथवा रोगी होंगे उनकी पूरी जिम्मेदारी मैं वासुदेव श्रीकृष्ण उठाऊँगा।” यह उद्घोषणा सुनकर महाराजाधिराज श्रीकृष्ण की आठों पटरानियाँ और अन्य रानियाँ, पुत्र-वधुएँ, राजकुमार और द्वारिका के अनेक नागरिक विरक्त होकर भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हो गए।

जब श्रीकृष्ण की पुत्रियाँ विवाह योग्य हो जाती तब श्रीकृष्ण उनसे पूछते—“पुत्रियों! बताओ तुमको स्वामिनी बनना है या सेविका?” तब राजकुमारियाँ कहती—“हम स्वामिनी होना चाहती हैं, सेविका नहीं।” श्रीकृष्ण कहते—“यदि तुम्हें स्वामिनी बनना है तो अपनी माताओं के समान श्री अरिष्टनेमि प्रभु के चरणों में दीक्षा लेनी होगी क्योंकि सभी साधु-साध्वी मेरे लिए वंदनीय व पूजनीय हैं और संसार के जितने भी राजा-महाराजा हैं वे सभी मेरे सेवक हैं। अतः तुम उनसे विवाह करके मेरी सेविका ही बनकर रहोगी।”

श्रीकृष्ण की बात सुनकर अनेक राजकुमारियों ने भगवान् नेमिनाथ के पास प्रवज्या ग्रहण कर ली परन्तु एक पुत्री केतुमंजरी ने दीक्षा लेने से मना कर दिया और बोली—“मुझे आपकी सेविका बनना मंजूर है।” पुत्री की बात सुनकर श्रीकृष्ण सोचने लगे—‘मुझे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए ताकि अन्य पुत्रियों को शिक्षा मिल सके और वे सभी विवाह करने का विचार त्याग दें।’

तब श्रीकृष्ण ने वीरक नाम के बुनकर को राज्यसभा में बुलाकर उसके साथ अपनी पुत्री केतुमंजरी का विवाह करा दिया। विवाह के बाद वीरक राजकुमारी को टूटे-फूटे झोंपड़े में ले आया। वहाँ केतुमंजरी को घर का सारा काम करना पड़ता था। वीरक के साथ धागा भी बुनवाना पड़ता था। इस तरह उसकी जिन्दगी एक सेविका की तरह गुजरने लगी। एक दिन उसने सोचा—‘पिताश्री ठीक ही कहते थे, मैं एक सेविका बनकर ही रह गई हूँ। अब मुझे भी अपनी और बहनों की तरह प्रभु अरिष्टनेमि के चरणों में प्रवज्या लेकर अपनी स्वामिनी स्वयं बनना चाहिए। ऐसा सोचकर वह वापिस श्रीकृष्ण के पास आई और उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगते हुए बोली—“पिताश्री! अब मुझे सेविका नहीं बनना। आप मुझे भी अपनी अन्य बहनों की तरह प्रवज्या दिलवा दीजिए।” तब श्रीकृष्ण ने वीरक से अनुमति लेकर राजकुमारी केतुमंजरी को भी दीक्षा दिलवा दी।

**कथासार**—इस तरह श्रीकृष्ण ने दीक्षा के लिए स्व-परिजनों व अन्यान्यों को प्रेरणा देकर धर्म की उत्कृष्ट दलाली का लाभ अर्जन किया। ऐसी उत्कृष्ट धर्म दलाली उत्कृष्ट मनोभावों के साथ करके उन्होंने शुभ नामकर्म में तीर्थकर नाम का उपार्जन कर लिया।





## मृगापुत्र (लोढ़िया) की कथा (अशुभ नाम कर्म का बंध)

एक बार श्रमण भगवान महावीर मृग नामक गाँव के उद्यान में पधारे। वहाँ इन्द्रभूति गौतम ने एक वृद्ध अन्धे कोढ़ी व्यक्ति को देखा, जिसके मुख पर भक्खियाँ भिन्नभिन्न रहीं थीं। शरीर में से पीप बह रहा था। वह बार-बार चलते-चलते ठोकर खाकर गिर जाता था। उसे देखकर गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से पूछा—“भगवन्! क्या इस संसार में इस वृद्ध, अन्धे, कोढ़ी व्यक्ति से भी अधिक अन्य कोई दुःखी होगा?”



तब प्रभु ने फरमाया—“गौतम! इस नगर के विजय राजा की पत्नी मृगावती का प्रथम पुत्र लोढ़िया इससे भी अधिक दुःखी जीव है। पूर्वभव के अशुभ नाम कर्म के फलस्वरूप उसका मुख, नेत्र और नासिकादिक से रहित है। उसकी देह में से दुर्गंधी रुधिर और मवाद बहता रहता है। उसके हाथ-पैर आदि कोई अंगोपांग नहीं हैं। वह केवल एक दुर्गंध युक्त माँस के लोथड़े के समान है।”

कर्म के विपाक की भयंकरता को सुनकर गौतम स्वामी के मन में उस मृगापुत्र लोढ़िया को देखने की इच्छा जागृत हुई और वह राजा विजय के महल में पहुँचे। रानी मृगावती, गौतम स्वामी को मुँह पर कपड़ा बाँधकर उस भूमिगृह के समीप ले गई जहाँ मृगापुत्र को रखा गया था। भूमिगृह खोलने पर भयंकर दुर्गन्ध निकलने लगी। दुस्सह वेदना भोगते हुए जन्म से अंधे, बधिर, गूंगे लोढ़ आकृति के समान मृगापुत्र को देखकर गौतम स्वामी अत्यन्त दुःखी हुए और उन्होंने वापस आकर भगवान महावीर से मृगापुत्र के उस भयंकर दुःख का कारण पूछा।

भगवान महावीर स्वामी ने मृगापुत्र के पूर्वभव के बारे में बताते हुए कहा—“हे गौतम! मृगापुत्र पूर्वभव में 'शतद्वार' नामक नगर में 500 गाँव का अक्खाई राठौर नामक अधिपति था। वह सप्त व्यसनी, लोगों को पीड़ा देकर आनन्दित होने वाला, झूठ, क्रोधी, पाप कार्यों में लिप्त, भारी कर लगाकर जनता को त्रास देने वाला दुराचारी था। अपने दुष्ट, दुर्जन, क्रूर कर्म के कारण उसने घोर अशुभ नाम कर्म का बंध किया। अन्त समय उसे खाँसी, सूजन जैसे सोलह महारोग उत्पन्न हो गए। वेदनापूर्वक 250 वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वह प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और वहाँ से निकलकर मृगावती के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्व में

किये हुए पाप कर्मों के फलस्वरूप वह यह भयंकर दुःख भोग रहा है।”

**कथासार—** इस कथा में मृगापुत्र लोढ़िया ने अपने पूर्वभव में न करने योग्य ऐसे भयंकर पापकर्म करके अशुभ नामकर्म का बंध किया जिसके फलस्वरूप उसे मृगापुत्र लोढ़िया के भव में लोढ़ आकृति का अमनोज्ञ रूप, बहते हुए पीप के समान अमनोज्ञ गंध आदि से युक्त बनकर भयंकर दुःखों को भोगना पड़ा।





## (7) गोत्र कर्म

आत्मा का सातवाँ गुण अगुरुलघु है। अर्थात् वास्तव में न उच्च है, न नीच है। गोत्र कर्म इस गुण को रोकता है। यह जीव को उच्च व नीच बनाता है। इसके कारण ही जीव ऊँची और नीची जाति और कुल में उत्पन्न होता है। मातृपक्ष के वंश को जाति और पितृपक्ष के वंश को कुल कहते हैं। उच्च-नीच, पूज्य-अपूज्य, आदरणीय-अनादरणीय, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित, जाति और कुल में उत्पन्न होना इसी कर्म के उदय का फल है।

इस कर्म का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं पशु-पक्षी, देव आदि पर भी पड़ता है। परन्तु यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि यदि कोई व्यक्ति नीची जाति में उत्पन्न हुआ है तो अपने सत्कर्म, सदाचार, ज्ञान, तप, त्याग आदि सद्गुणों से श्रेष्ठ और सम्मानीय बन सकता है। जैसे हरिकेश बल मुनि चाण्डाल कुल में जन्म लेकर भी अपनी तपस्या और संयम के कारण देवों के भी पूजनीय बन गये और कंस और दुर्योधन जैसे व्यक्ति ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी अपने बुरे स्वभाव के कारण अपमान और घृणा के पात्र बन गये।

**उत्तरप्रकृतियाँ**—गोत्र कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ हैं—(1) उच्च गोत्र कर्म और (2) नीच गोत्र कर्म। उच्च गोत्र कर्म को शुभ गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्म को अशुभ गोत्र कर्म भी कहा जाता है।

(1) **उच्च गोत्र कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है। उच्च गोत्र कर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मान-सम्मान, ऐश्वर्य आदि के उत्कर्ष का भी कारण है। जिस कुल में ख्याति, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, धर्म, न्याय, नीति आदि का आचरण हो, दुःखी पीड़ितों की रक्षा करके कीर्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त की हो, वह उच्च गोत्र है। हरिवंश, चन्द्रवंश, सूर्यवंश आदि कुल इसके उदाहरण हैं।

(2) **नीच गोत्र कर्म**—इस कर्म के उदय से जीव निम्न (नीच) कुल में जन्म लेता है। अनीति, अधर्म और पापाचरण करके जिस कुल में बदनामी, अपकीर्ति एवं कुसंस्कारिता प्राप्त की हो, वह नीच कुल है। जैसे वैश्या, चोर, कसाई आदि के कुल। वधिक वंश कसाईयों का वंश है, मद्य-विक्रेता वंश, चोर वंश आदि नीच वंश है। नीच गोत्र कर्म के फल विपाकस्वरूप इन कुलों में जन्म लेना पड़ता है।

**गोत्र कर्म बन्ध के कारण**—गोत्र कर्म सोलह कारणों से बाँधा जाता है, जिसमें से आठ कारण हैं उच्च गोत्र कर्म बंध के और आठ कारण नीच गोत्र कर्म बंध के।



उच्च गोत्र कर्म

निम्न गोत्र कर्म



सफाईकर्म

गधा



जीव आठ कारणों से उच्च गोत्र कर्म बाँधता है—

(1) जातिमद न करने से, (2) कुलमद न करने से, (3) रूपमद न करने से, (4) बलमद न करने से, (5) तपमद न करने से, (6) श्रुतमद-शास्त्रज्ञान का मद न करने से, (7) लाभमद न करने से और (8) ऐश्वर्यमद न करने से।

कर्मग्रन्थ में उच्च गोत्र कर्म बन्ध के चार कारण बताए हैं—

1. गुणानुरागी—किसी व्यक्ति में दोषों के रहते हुए भी उस विषय में उदासीन रहना, केवल उसके गुणों को ही देखना।
2. मद रहित—जातिमद आदि आठ प्रकार का मद न करना, निरभिमानो रहना।
3. अध्ययन एवं अध्यापन की रुचि वाला—सदैव पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन में रत रहना।
4. जिन भक्ति आदि—जिनेन्द्र भगवान (अरिहन्त), सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता-पिता तथा गुणीजनों की भक्ति करना, उनके गुणों को अनुमोदना करना।



जीव आठ कारणों से नीच गोत्र कर्म बाँधता है—उच्च गोत्र कर्म के विपरीत ही आठ कारणों से जीव नीच गोत्र कर्म बाँध लेता है— 1. जातिमद, 2. कुलमद, 3. रूपमद, 4. बलमद, 5. तपमद, 6. श्रुतमद, 7. लाभमद और 8. ऐश्वर्यमद (गर्व, घमण्ड या अहंकार) करने से। कर्मग्रन्थ में नीच गोत्र कर्म बन्ध के चार कारण बताए हैं—

1. दूसरे के गुणों को न देखकर दोषों का ही उद्भावन करना।
2. जातिमद आदि आठ मद करना, गर्व में चूर रहना।
3. पाँचों इन्द्रियों के विषयों में, प्रमाद में व्यग्र रहना।
4. अरिहन्त आदि के अवगुणवाद बोलना, निन्दा करना।





उच्च गोत्र कर्म का फल विपाक निम्न प्रकार से भोगा जाता है—

(1) जाति विशिष्टता (मातृपक्षीय सम्मान)।

(2) कुल विशिष्टता (पितृपक्षीय सम्मान)।

(3) रूप विशिष्टता (रूपपक्षीय सम्मान)—विशिष्ट प्रकार का सुन्दर रूप, दिखाने योग्य शरीर की प्राप्ति।

(4) बल विशिष्टता (बलपक्षीय सम्मान)—विशिष्ट शारीरिक, मानसिक बल की प्राप्ति।

(5) तप विशिष्टता (तपोजन्य सम्मान)—तप या उपवास करने की विशिष्ट शक्ति की प्राप्ति।

(6) श्रुत विशिष्टता (श्रुत-ज्ञानजन्य सम्मान)—विशिष्ट ज्ञान के लाभ की प्राप्ति। जैसे चित्रकला, रसोईकला, ज्योतिष विद्या आदि की प्राप्ति।

(7) लाभ विशिष्टता (लाभ या प्राप्ति सम्बन्धी सम्मान)—विशिष्ट प्रकार के ऊँचे संयोगों का लाभ। श्रेष्ठ जैनधर्म की प्राप्ति। तीर्थंकर भगवान, केवली भगवान, सुपात्र साधु-साध्वियों के संयोग की प्राप्ति। आगम शास्त्रों की प्राप्ति। आर्य क्षेत्र में जन्म होना, धर्म आराधना करने की प्राप्ति।

(8) ऐश्वर्य विशिष्टता (ऐश्वर्यपक्षीय सम्मान)—विशिष्ट धन-सम्पत्ति, माल-मिलकियत, सोना-चाँदी, भोग-विलास के ऊँचे साधन, कार, बैंगला, सुविधाएँ, समाज में ऊँचे स्थान की प्राप्ति।

अशुभगोत्रकर्म के फलस्वरूप इनसे विपरीत फल की प्राप्ति होती है।

**नीच गोत्र कर्म के निवारण के उपाय :**

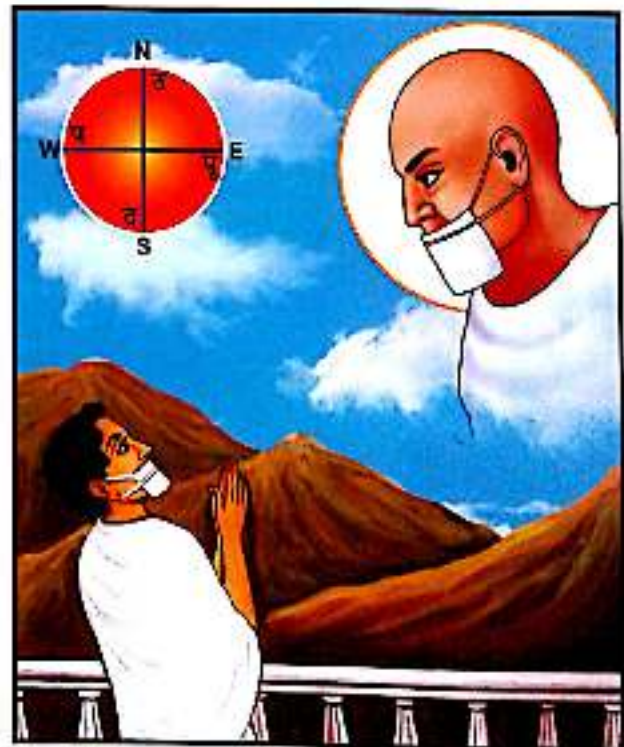
1. उच्च गोत्र मिलने पर अहंकार नहीं करना और नीच गोत्र मिलने पर दीन-हीन नहीं बनना।

2. तिरस्कृत जीवन से बचना हो तो किसी का तिरस्कार नहीं करें।

3. उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्याय में कहा है—“वन्दणेण नीचा गोयं कम्मं खवेइ, उच्च गोयं च निबंघइ”— अर्थात् वन्दना करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय एवं उच्च गोत्र कर्म का बंध होता है। अतः प्रतिदिन प्रातः उठते ही तीन बार पूर्व या उत्तर दिशा में तिकखुतो के पाठ से वन्दना करें।

4. 250 से अधिक काव्यों के रचयिता आचार्य सम्राट् पूज्य श्री जयमलजी म. सा. कृत “बड़ी साधु वन्दना” का स्वाध्याय करते हुए हर एक कड़ी के बाद एक बार तिकखुतो के पाठ से वन्दना करना।

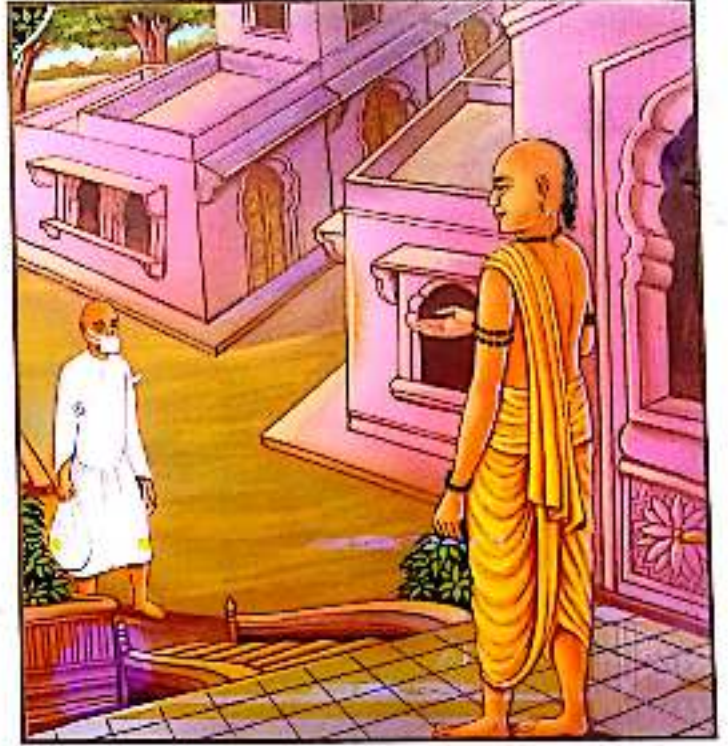
गोत्र कर्म की स्थिति और अबाधाकाल—इसकी स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट बीस कोटाकोटी सागरोपम की है तथा अबाधाकाल दो हजार वर्ष है।





## हरिकेशबल की कथा (निम्न गोत्र कर्म का बंध)

अपने पूर्वभव में 'बल' देवलोक में और उससे पूर्व सोमदत्त पुरोहित के रूप में मनुष्यलोक में हस्तिनापुर में रहता था। मथुरा-नरेश शंख राजा जब संसार से विरक्त बन संयम पथ के पथिक बने तो एक बार अपने विहार क्रम में हस्तिनापुर पधारे और मासक्षमण के तप को पूर्ण कर पारणा करने के लिए भिक्षार्थ नगर के उच्च, मध्यम, निम्न कुलों के घरों में पर्यटन करने लगे। धूमते हुए मुनि शंख एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ एक जनशून्य गली थी। मुनिवर ने गली के ओर-छोर तक कोई जन-संचार नहीं देखा। उन्होंने गली के नजदीक वाले मकान के मुख्य द्वार की ओर देखा, जहाँ सोमदत्त पुरोहित खड़ा था। मुनिश्री ने सोमदत्त से पूछा—“क्या नगर का यही रास्ता है?”



सोमदत्त पुरोहित वेद-वेदांगों का पारंगत विद्वान्, बहुत बड़ा पंडित और एक सुदर्शनीय पुरुष था, पर था वह बड़ा अभिमानी। उसे अपने रूप, अपनी विद्या, अपनी उच्च जाति का बड़ा अभिमान था। वह मुनियों के प्रति ईर्ष्या भाव भी रखता था। मुनिवर के प्रश्न करने पर उसने सोचा—‘यह गली तो ‘हुतवह-रथ्या’ गली है। ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के ताप में सुतृप्त लोहे के समान यह हर समय अत्यंत गर्म रहती है। इसमें तो कोई व्यक्ति चला जाए तो वह पथ की उष्णता से मूर्च्छित होकर गिर सकता है और मर सकता है। यह मुनि यदि इस पथ से जायें तो अच्छा तमाशा रहेगा।’

यह सब सोचते हुए सोमदत्त पुरोहित ने मुनिवर से कहा—“हाँ! यहाँ नगर ले जानी वाली यही गली है।”

तपस्वी और लब्धि-सम्पन्न शंख मुनि यह सुनकर निश्चल भाव से ईर्यासमितिपूर्वक उसी ठण्ण मार्ग पर चल पड़े। वे गली में गए, कुछ कदम बढ़े और फिर निरन्तर स्थिर व शांत गति से प्रगतिमान बने रहे। इधर सोमदत्त पुरोहित तो तमाशा देखने के विचार से मुनि को ही निहार रहा था। वह सोच रहा था—‘मुनि अब छटपटाना प्रारम्भ करेंगे, अब नाचेंगे-कूदेंगे, अब गिरेंगे बेहोश होकर धड़ाम से।’ पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सोमदत्त चकित था—‘यह कैसे सम्भव है? ये मुनि तो जैसे अग्नि-पथ पर नहीं, अपितु चंदन-पथ पर चल रहे हैं। कितने शांत हैं ये! कौंसी स्थिर गति है इनकी!! छटपटाहट तो दूर, चेहरे पर शिकन तक नहीं है इनके। क्या इनके पाँव नहीं जल रहे? क्या इस उष्ण-पथ की अंगारों-सी दहकती रेत में कोई परिवर्तन हो गया है? यदि ऐसा है तो ये मुनि महातपस्वी होने चाहिए।’

इन्हीं विचारों में डूबता-उतरता सोमदत्त उस समय अपने को रोक नहीं सका। वह अपने भवन के मुख्य द्वार से बाहर आया और चेहरे पर आश्चर्य के भाव लिए नंगे पाँव ही उस 'हुतवह-रथ्या' गली की तरफ चल दिया। गली के मुहाने तक पहुँचकर डरते-डरते उसने अपना नंगा पाँव गली में बढ़ाया और उसे उष्ण-पथ की मिट्टी पर धीरे से रखकर तुरंत खींच



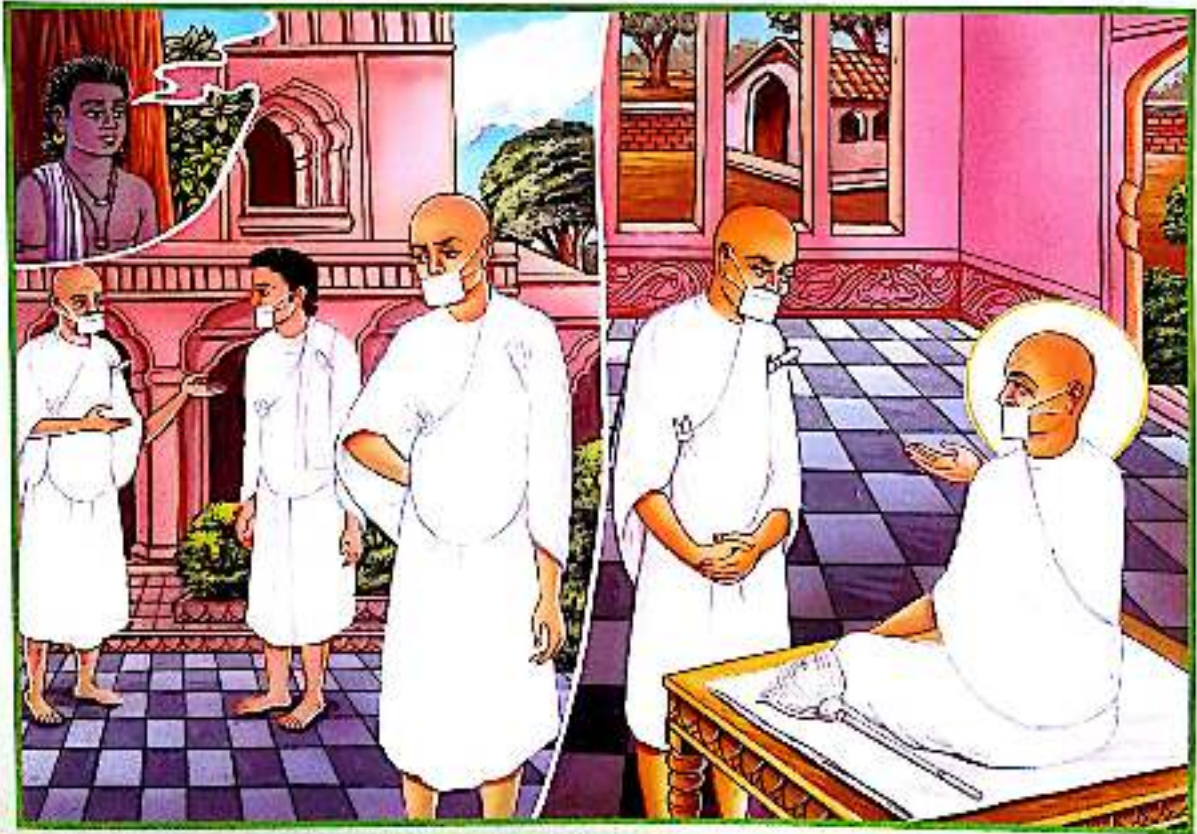
लेना चाहा। उसने सोचा—'मेरा पाँव जल जाएगा। मुनि में संयम-बल हो सकता है, पर मैं तो साधारण व्यक्ति हूँ।'

सोमदत्त अपना पाँव तुरन्त हटाना चाहता था पर हटा नहीं पाया। वहाँ की माटी का स्पर्श उसे पूर्णतः शीतल लगा। 'यह सब मुनि के तपोबल का ही प्रभाव है।'—यह सोचकर सोमदत्त पश्चात्ताप करने लगा कि 'उसने मुनि को जला देने की भावना से क्यों बस गली में भेजा? बहुत भयंकर पाप हुआ है उससे।'



इस प्रकार मन में पश्चात्ताप का भाव लिए वह सोमदत्त तीव्र गति से गली में दौड़ पड़ा और शीघ्र ही मुनिवर के निकट पहुँच गया। उसने मुनि के चरणों में गिरकर अपनी दुष्टता के लिए उनसे क्षमायाचना की।

मुनि ने उसे कहा—'क्षमा करना तो श्रमण का धर्म है। तुम किसी के प्रति दुर्भावना मत रखो और क्षमा धर्म की शरण ग्रहण करो।' मुनि के तप-तेज और क्षमाशीलता से प्रभावित सोमदत्त पुरोहित ने मुनि का धर्मोपदेश सुनकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।





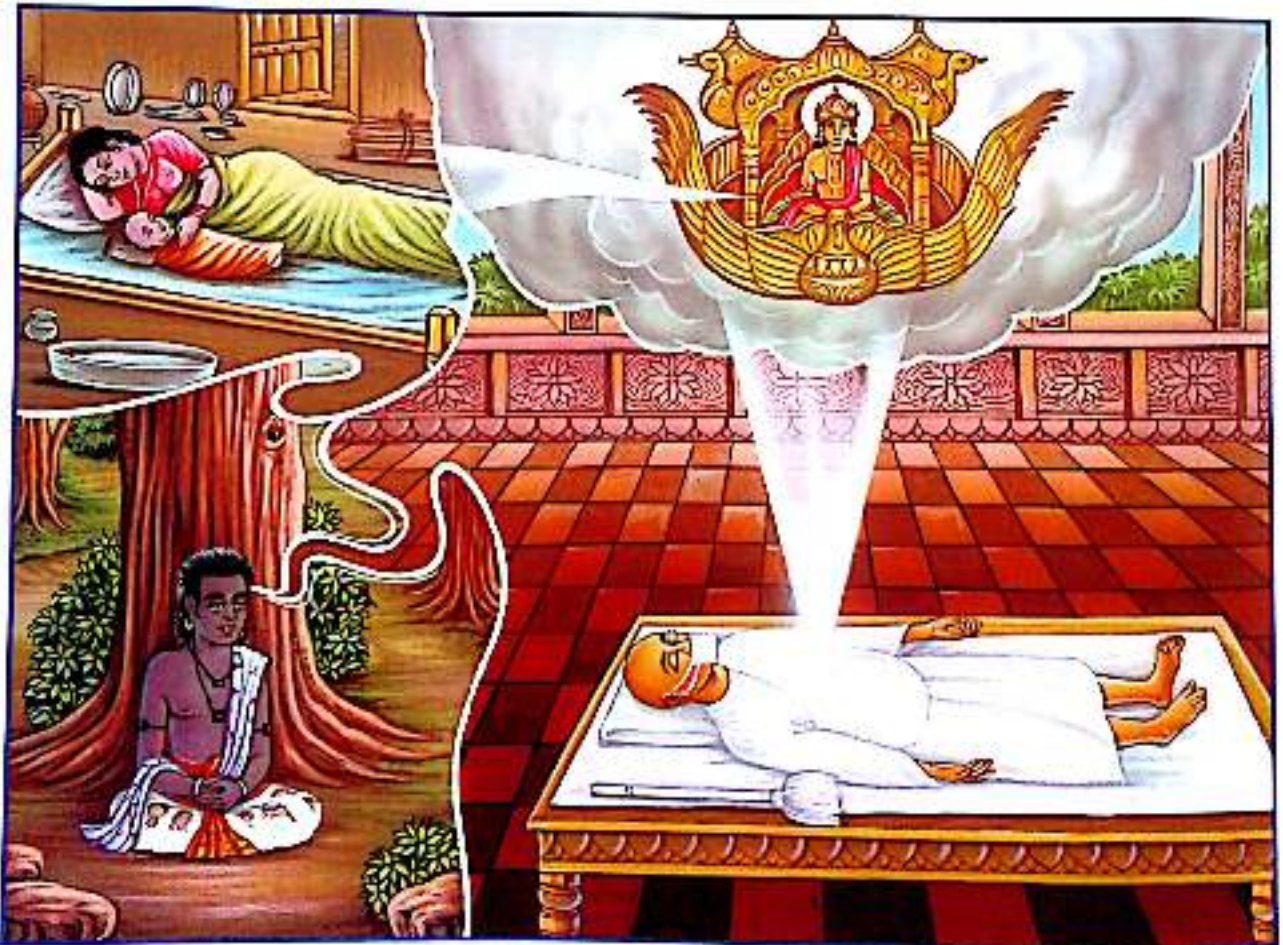
श्रमण बनकर भी मुनि सोम को अपने उच्च ब्राह्मण कुल और अपनी सुन्दरता का सदैव अभिमान बना रहता। अक्सर पाने पर वह अन्य श्रमणों के समक्ष अपनी सुन्दरता और उच्च कुल तथा दूसरे श्रमणों के निम्न कुल की बात कह देता। जब गुरु को इस बात का पता चला तो उन्होंने मुनि सोम को बुलाकर कहा—“सोम मुनि! अपने शरीर की सुन्दरता का अहंकार करके दूसरों का अपमान करना श्रमणाचरण के अनुकूल नहीं है। साथ ही ब्राह्मण या शूद्र जाति का जहाँ तक प्रश्न है, तो हे मुनि! उच्च या निम्न जाति शरीर की होती है। आत्मा की कोई जाति नहीं होती। तप करने वाला शूद्र भी महान् है और पाप करने वाला ब्राह्मण भी निम्न है।”

मुनि सोमदत्त के रक्त के एक-एक कण में अभी भी जाति व रूपमद के भाव समाये हुए थे। गुरु के कथनों का सोमदत्त मुनि पर कोई असर नहीं हुआ। मन में तो उनके मुनिजनों के मैले-कुचैले वस्त्रों के प्रति भी घृणा का भाव था।

अपने संयम-जीवन के अन्तिम समय तक सोम मुनि का यह जाति व रूपमद तथा मुनियों के गंदे वस्त्रों के प्रति जुगुप्सा का भाव विद्यमान रहा। आयुष्य पूर्ण होने और मरणधर्म प्राप्त कर लेने तक भी सोम मुनि ने अपने इन अशुभ भावों की आलोचना नहीं की।

देह त्यागने के पश्चात् संयम पालन के प्रतिफल में सोम मुनि देवलोक में गए।

**कथासार**—जाति व रूपमद तथा मुनियों के वस्त्रों के प्रति जुगुप्सा भाव के कारण सोम मुनि के जीव ने निम्न गोत्र का बंध किया और देवध्व से च्यवन कर चांडालाधिपति बलकोट्ट और गौरी के घर में 'बल' के रूप में जन्म पाया।





## (8) अन्तराय कर्म

अन्तराय शब्द का अर्थ है विघ्न-बाधाएँ, रुकावट या अड़चन। आत्मा का आठवाँ गुण अनन्त शक्ति है। उस अनन्त शक्ति को प्रगट करने में जो वीर्य शक्ति चाहिए, उसको रोकने वाला कर्म अन्तराय कर्म है। इसके उदय से जीव को कृपणता, दरिद्रता, निर्बलता, पराधीनता आदि होती है। यह दान, भोग, लाभ आदि में अन्तराय डालता है। आत्मा की अनन्त वीर्य शक्ति का घात करने वाला होने के कारण यह घाति कर्म है। अन्तराय कर्म के कारण जीव के पास या सामने भोग्य-उपभोग्य सामग्री पड़ी है, परन्तु उसमें भावपूर्वक ममत्व त्याग करके देने की शक्ति या त्याग करने का उत्साह जागृत नहीं होता। कभी-कभी कोई वस्तु आदि बहुत मेहनत करने पर भी नहीं मिलती है या खाने-पीने, पहनने की वस्तुएँ अपने पास होते हुए भी उनका उपभोग नहीं कर पाता है। यह सब अन्तराय कर्म का ही कारण है।

**उत्तरप्रकृतियाँ**—आत्मा में संसार की सभी वस्तुओं का दान देने की, त्याग करने की शक्ति है, सभी कुछ प्राप्त करने की क्षमता है, सभी को भोग-उपभोग करने की सामर्थ्य है; तप, जप, ध्यान, मौन, चारित्रपालन, क्षमादि धर्माचरण करने की ताकत है, लेकिन अन्तराय कर्म वैसा करने में विघ्न बाधा उपस्थित करता है, इसलिए आत्मा को इन देने, लेने, भोगोपभोग करने या धर्मादि का आचरण करने की शक्तियों में अवरोधक बनने के कारण अन्तराय कर्म के मुख्यतया पाँच भेद हैं—

(1) **दानान्तराय कर्म**—दान की सामग्री, उत्तम पात्र की उपलब्धि होते हुए और दान का शुभफल जानते हुए भी दान देने का उत्साह न होना, इस कर्म का उदय हुआ है जानना चाहिए। जैसे राजा श्रेणिक की दासी कपिला के पास दान देने योग्य सामग्री उपलब्ध होने और दान देने का आग्रह होने पर भी उसमें दान देने का उत्साह नहीं था।



(2) **लाभान्तराय कर्म**—मन इच्छित वस्तु या पदार्थ की प्राप्ति होना लाभ कहलाता है। इस कर्म के उदय से जीव को इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती; चाहे दान



देने वाला दाता हो, देय वस्तु और लेने वाला भी उपलब्ध हो, याचना भी कर ली हो परन्तु फिर भी वस्तु प्राप्त नहीं होती। जैसे कहीं गरीबों को किसी योजना के अन्तर्गत राशि बांटी जा रही है परन्तु उसे प्राप्त न हो।

(3) **भोगान्तराय कर्म**—जिन वस्तुओं का एक ही बार उपभोग किया जा सकता है, उसे भोग्य सामग्री कहते हैं। जैसे—आहार-पानी आदि। इस कर्म के उदय से जीव को भोगने की भावना हो, कोई त्याग-नियम भी नहीं हो परन्तु रोग अथवा अन्य किसी कारण से भोग नहीं सके, उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं। जैसे



किसी व्यक्ति के सामने मीठे फल और मिठाई आदि रखें हों किन्तु डायबिटीज के कारण डॉक्टर उसे खाने से रोक देता है।

(4) **उपभोगान्तराय कर्म**—जिन वस्तुओं का उपभोग बार-बार किया जा सकता है, वह उपभोग सामग्री कहलाती हैं। जैसे—कपड़े, मकान, फर्नीचर आदि। इस कर्म के उदय से यह सामग्री होने पर भी त्याग-प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की भावना रखते हुए भी व्यक्ति इस कर्म के उदय के कारण अपने अधीन उपभोग-सामग्री का उपभोग नहीं कर पाता।



(5) **वीर्यान्तराय कर्म**—वीर्य का तात्पर्य शक्ति, सामर्थ्य, उत्साह

तथा पराक्रम

से होता है। इस कर्म के उदय से जीव के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार एवं पराक्रम क्षीण हो जाते हैं। नीरोग और बलवान होते हुए भी प्राणी सत्त्वहीन के समान प्रवृत्ति करता है और अपनी वीर्य शक्ति को धार्मिक अथवा संसारिक कार्यों में प्रयोग नहीं कर पाता। जैसे कोई व्यक्ति भूखा नहीं रह पाता। संवत्सरी को सभी उपवास करते हैं परन्तु वह उपवास नहीं कर पाता है।

**बन्ध के कारण**—भगवती सूत्र में अन्तराय कर्म बंध के पाँच कारण बताये हैं—(1) दान, (2) लाभ, (3) भोग, (4) उपभोग में विघ्न डालने तथा (5) वीर्य (शक्ति) का शुभ कार्यों में उपयोग छुपाने से इस कर्म का बन्ध होता है।



1. **दान देने में रुकावट डालना**—स्वयं की शक्ति सामर्थ्य होते हुए भी धन, भोज्य, वस्त्र आदि पदार्थों को जरूरतमंदों को दान न देना अथवा कोई दूसरा व्यक्ति दान दे रहा हो तो उसको बर्गलाकर, झूठ बोलकर या अन्य किसी कारण से रोक देने पर अन्तराय कर्म का बंध होता है।

2. **लाभ में अन्तराय डालना**—यदि किसी मनुष्य को कहीं लाभ हो रहा हो तो उसमें विघ्न डालना। पुत्र, धन, आहार आदि की प्राप्ति में विघ्न डालने से लाभान्तराय कर्म का बंध होता है।

3. **भोगान्तराय**—कोई व्यक्ति भोग्य पदार्थों का भोग कर रहा हो तो ईर्ष्यावश अथवा शूद्र हृदयवश इन भोग्य पदार्थों की प्राप्ति में विघ्न डालने से भोगान्तराय कर्म का बंध होता है।





4. **उपभोगान्तराय**—कोई व्यक्ति अपने मकान, बर्तन, वाहन आदि का उपभोग कर रहा है या करना चाहता है, तो कोई ईर्ष्यावश या विरोध के कारण उसमें विघ्न डालता है तो उपभोगान्तराय कर्म का बंध होता है।

5. **वीर्यान्तराय**—मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक शक्ति को अनुशासन द्वारा अथवा अन्य किसी कारण द्वारा कुंठित कर देने से वीर्यान्तराय कर्म का बंध होता है। जैसे कोई व्यक्ति साधु-साध्वियों की वैयावच्य कर रहा हो अथवा तप-संयम आदि करने को अग्रसर हो तो उसको निरुत्साह करना आदि इसके बंध के कारण हैं।

**फलभोग**—इस कर्म का फलभोग उदय के अनुसार होता है।

**अन्तराय कर्म के निवारण के उपाय :**

1. जिस प्रकृति को अन्तराय है, उस प्रवृत्ति की उतनी ही अनुमोदना करना प्रारम्भ कर दें।
2. उत्कृष्ट परिणामों से दान देने, दिलाने और देने वाले की अनुमोदना करने से (जैसे-दान, तपस्या की बोली से) शीघ्र ही अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है।
3. भोग-उपभोग अन्तराय के कारण यदि स्वयं भोग नहीं कर सकें तो दूसरों को रोके नहीं।
4. वीर्य अन्तराय हो तो श्रीकृष्ण वासुदेव सम धर्म दलाली करें।
5. यदि कोई मुमुक्षु दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो उसे रोके नहीं।
6. अन्तराय तोड़ने के लिए अभिग्रह युक्त तपस्या करें।

**अन्तराय कर्म की स्थिति और अबाधाकाल**—इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोटाकोटी सागरोपम की है तथा अबाधाकाल तीन हजार वर्ष है।

### ढंढण कुमार की कथा (अंतराय कर्म का बंध)



ढंढण कुमार का जीव पूर्वभव में किसानों का निरीक्षक था। वह गाँव के लोगों से राजा के खेतों में बुवाई करवाता था परन्तु जब किसानों को भोजन करने की छुट्टी का समय होता, तब भी वह किसानों को छुट्टी नहीं देता और भूखे लोग व भूखे बैलों से हल जुतवाकर असह्य मजदूरी करवाता था और उसने अन्तिम समय में इस दुष्कर्म की आलोचना भी नहीं की। इस प्रकार मुफ्त में काम करवाकर वह किसानों और जानवरों के भोजन में अंतराय डालकर उसने अन्तराय कर्म का बंधन कर लिया। दूसरे भव में नेमनाथ भगवान के पास दीक्षा लेकर जब वे ढंढण मुनि बने, तो वे जब भी भिक्षा के लिए जाते तो पूर्वभव के कर्मों का उदय होने के



कारण वहाँ उन्हें आहार आदि नहीं मिलता। ऐसा हमेशा होता था। जब भगवान ने उनको इसका कारण बताया तब उन्होंने अभिग्रह किया कि यदि मेरी स्वयं की लब्धि से आहार मिलेगा, तो ही मैं पारणा करूँगा, अन्यथा नहीं। यहाँ दूसरों को भोजन में दिए हुए अंतराय के कारण बाँधा हुआ अंतराय कर्म उदय में आया। शास्त्रकार ने कहा है कि—

**“बंध समये चित्त चेतीये रे, उदये शो संताप।”**

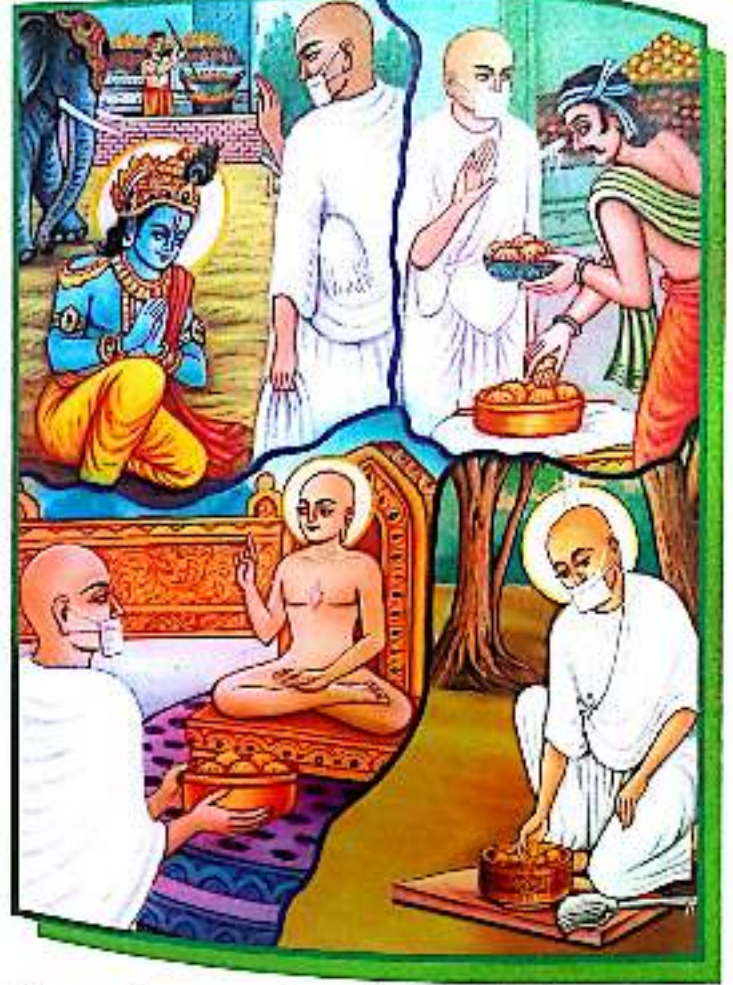
अरे जीव! कर्मों को बाँधते समय विचारना चाहिये, उदय आने पर रोने से क्या फायदा..... हँसते हुए बाँधे कर्म रोने से भी नहीं छूटते..... छह महीने तक घूमे, परन्तु उनको स्वयं की लब्धि से गोचरी नहीं मिली।

एक दिन सभा में बैठे श्रीकृष्ण वासुदेव ने भगवान श्री नेमिनाथजी से पूछा—“प्रभु! इन सब साधुओं में दुष्कर कार्य करने वाला कौन है?” प्रभु ने कहा—“सब मुनि दुष्कर कार्य तो करते ही हैं लेकिन ढंढण मुनि सर्वाधिक हैं, क्योंकि वे लम्बे असें से सख्त अभिग्रह पाल रहे हैं।” जब श्रीकृष्ण वासुदेव प्रभु की वंदना करके महल लौट रहे थे, मार्ग में

ढंढण मुनि को गोचरी के लिए जाते देखा, उन्होंने तुरन्त हाथी के ऊपर से उतरकर ढंढण मुनि को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। इस प्रकार श्रीकृष्ण वासुदेव को वंदन करते देखकर पास में खड़े एक हलवाई के मन में मुनि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई—“अहो! स्वयं श्रीकृष्ण वासुदेव जिनको नमस्कार कर रहे हैं वे मुनि कैसे महान् चारित्रशील होंगे।” ऐसी भावना आने पर उसने मुनि को अपनी दुकान पर ले जाकर बहुमान पूर्वक निर्दोष मोदक की भिक्षा अर्पण की। मुनि प्रसन्न होकर स्वस्थान लौटे और प्रभु को पूछा—“आज मुझे गोचरी मिली है। क्या मेरे अंतराय कर्मों का क्षय हो गया?” श्री सर्वज्ञ प्रभु ने उत्तर दिया—“नहीं! अभी अंतराय कर्म बाकी ही हैं। आज जो गोचरी मिली है वह तो श्रीकृष्ण वासुदेव की लब्धि से मिली है। श्रीकृष्ण तुम्हें नमस्कार कर रहे थे यह देखकर उस हलवाई ने तुम्हें प्रतिलाभित किया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रभाव (लब्धि) से तुम्हें गोचरी बहरावी गई है। अतः तुम्हारी लब्धि से यह आहार नहीं मिला है।” स्वयं का अभिग्रह पूरा नहीं हुआ है, यह जानकर ढंढण मुनि आहार सामग्री का उपयोग किए बिना ही गोचरी परठने चल दिए और मोदक चूरते-चूरते चिंतन करने लगे—‘अहो! जीवों के पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करना बहुत मुश्किल है। ऐसे कर्मों को करते समय मेरी आत्मा ने चिंतन क्यों नहीं किया?’ ऐसा सोचते-सोचते वह ध्यान में मग्न हो गए। भावों की शुभ धारा पर चढ़ते-चढ़ते शुक्लध्यान में चले गए और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

पूर्वभव में आहार की अन्तराय देने पर ढंढण मुनि को कितना क्षुधा परीषह सहन करना पड़ा।

**कथासार**—दान, लाभ, भोग-उपभोग एवं पराक्रम आदि में अन्तराय नहीं देना।







आत्म साधना से  
कर्मक्षय करता श्रमण

संसार का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार जन्म लेता है और तदनुसार जीवन को भोगता है, जीता है। किसी का जीवन सुख में बीत रहा है तो कोई दुःख से घिरा है। इन प्राणियों के सुख-दुःख का मूल कारण है कर्म। कर्म के मूल में समाया है राग-द्वेष। राग और द्वेष कर्म के दो बीज हैं। मोह-मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति, कषाय, योग आदि के खाद-पानी से इन कर्म-बीजों का जब पल्लवन व पोषण होता है तो कर्म का एक वट-वृक्ष खड़ा हो जाता है, जिसमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अंतराय की शाखाएँ फलने-फूलने लगती हैं। कर्म का यह वटवृक्ष संसार के प्रत्येक प्राणी को अपनी छत्र-छाया में नचाता है, हँसाता है और रुलाता है। जीवन का सारा क्रम, अनुक्रम और उपक्रम अन्ततः कर्म के अधीन हो जाता है।

प्रकाशक : पार्श्व पद्मोदय फाउन्डेशन, चेन्नई